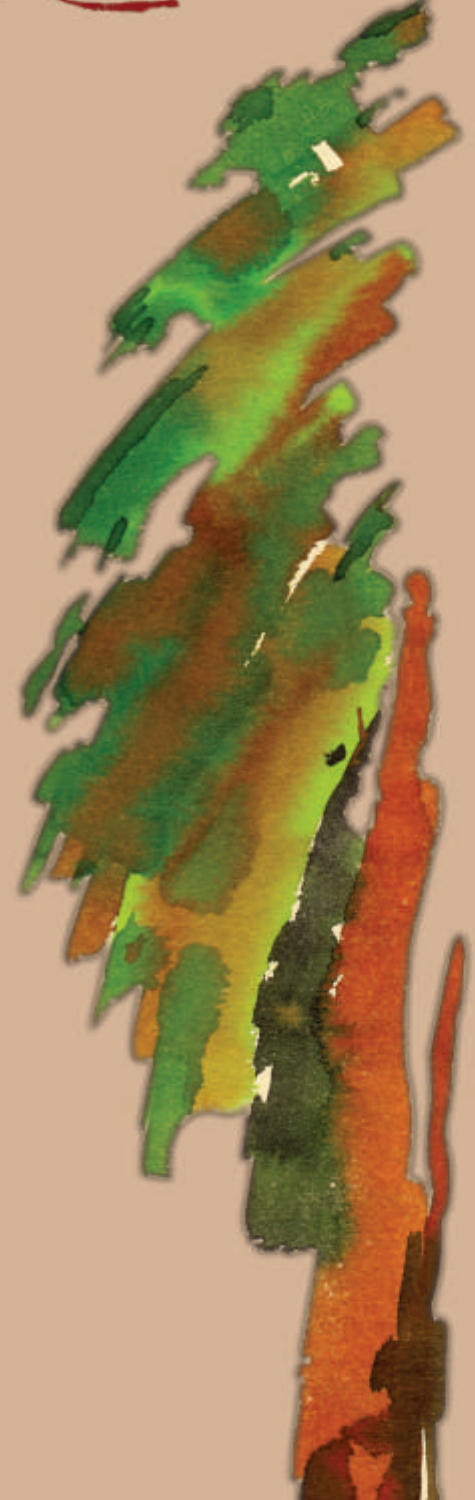


जेएनयू
पालिका



वर्ष-4 अंक-7 जनवरी-जून, 2016

“हमारे भव्य जंगलात उन वन्य जीवों एवं खूबसूरत परिंदों को उद्धृत करते हैं जो हमारे जीवन को उज्ज्वल बनाते हैं। यदि ये भव्य वन्य जीवन हमें खेलने व देखने को ना मिले तो हमारा जीवन नीरस व रंगहीन हो जाएगा। अतः हमें बचे हुए वन्यजीवों एवं जंगलों का संरक्षण करना चाहिए।”

- पं. जवाहरलाल नेहरू



सियार



रडी मंगूज़

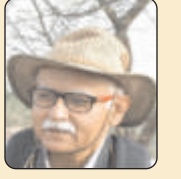


मसंग बिल्ली (सिवेट)



नेवला

फोटो सौजन्य - डॉ. सूर्य प्रकाश



परिसर के स्तनधारी - भाग-II (कार्नीवोरस)

‘परिसर’ के अबतक प्रकाशित सभी अंकों के माध्यम से यह स्पष्ट हो चुका है कि किस तरह से जेएनयू परिसर की परिस्थितिकी समय के साथ-साथ ‘सामुदायिक संरक्षण’ की दृष्टि से विकसित हुई है और राजधानी के भीड़-भाड़ वाले इलाके, दक्षिणी दिल्ली के हृदय में जैव-विविधता का अद्भुत उदाहरण बन गई है। जैसे-जैसे जेएनयू परिसर अपनी स्थापना की स्वर्ण जयंति की ओर अग्रसर हो रहा है वहीं यहां की जैव-विविधता व पर्यावरण भी फल-फूल रहा है। परिसर के इस अंक में हम खाद्य-शृंखला की सर्वोच्च कड़ी यानी की मांस भक्षी (कार्नीवोरस) वन्य जीवों की चर्चा करेंगे। परिसर में विभिन्न प्रकार के कार्नीवोरस (मांस भक्षी) वन्य जीव पाए जाते हैं जिनमें कॉमन पाम सिवेट, स्माल इंडियन सिवेट, जिन्हें टॉडी कैट व मसंग बिल्ली व बिज्जु के नामों से भी जाना जाता है व ये जानवर बिल्ली परिवार के सदस्य होते हैं। इनके अलावा तीन प्रजातियों के नेवले व इंडियन गोल्डन जैकॉल (सियार) आदि प्रमुख रूप से देखे जा सकते हैं। इन सभी वन्य जीवों का मुख्य भोजन छोटे-मोटे जीव-जन्तु जिनमें गिलहरी, चूहा, खरहा परिसर में रहने वाले पक्षी शामिल हैं। ये सभी मांस-भक्षी कुशल शिकारी होते हैं। सिवेट्स व जैकॉल पूर्णरूप से निशाचर होते हैं व रात में ही शिकार करना पसंद करते हैं व दिन में ये किसी ऊंचे पेड़ पर या चट्टानों की दरारों में अथवा सुनसान पड़े खाली घरों या भवनों की छतों आदि में आराम करते हैं। नेवले दिन में शिकार करते हैं। सिवेट्स कई बार रिहाईशी इलाकों में भी अक्सर नज़र आ जाते हैं क्योंकि इन्हें घरों के बागीचों व रसोईघर से खाद्य-सामग्री की चोरी करने में उस्तादी हासिल है। देश भर में पाम रिवेट्स की आबादी तेजी से घट रही है। दक्षिणी भारत में इन्हें अक्सर ‘कॉफी प्लांटेशन’ वाले खेतों के आसपास देखा जा सकता है जहाँ ये कॉफी के पौधे से उनके फल भी चट कर जाते हैं व अनपचे बीजों को विसर्जित कर देते हैं। उन बीजों से विश्व की सबसे महंगी व फैशनेबल कॉफी ‘कॉफी लुवाक’ बनाई जाती है। जो विशेष रूप से इण्डोनेशिया में बड़े चाव से पी जाती है। रूडी मंगूज़ पठारी जंगलों में रहना पसंद करते हैं जो जेएनयू की अनुकूल मौजूदा परिस्थितिकी है व अन्य दो प्रजातियाँ मानवीय आवास के आसपास नज़र आ जाती हैं।

सियार भी पूर्णरूप से निशाचर हैं व ये एक अवसरवादी वन्य-जीव हैं जो शिकार ना मिलने पर स्केर्वेज भी कर लेते हैं। अक्सर रात के सन्नाटे में इनके चिल्लाने की आवाज़ घरों में सुनाई दे जाती है। कई बार इन शर्मिले जीवों को दिन में भी सड़कों को पार करते देखा जा सकता है। पिछले कुछ वर्षों में इन सभी वन्य-जीवों की संख्या हमारे परिसर में तेजी से घटी है जिसका मुख्य कारण परिसर में तेजी से बढ़ती हुई आवारा कुत्तों की तादात है जो ना केवल इन मांस भक्षी जीवों को मार रही है वरन् नील गायों के छौने, खरहा तथा राष्ट्रीय पक्षी मोर को भी मार कर खा रहे हैं जो कि एक ज्वलंत समस्या है। यदि समय रहते इस समस्या का समाधान नहीं किया गया तो परिसर की परिस्थितिकी में एक भीषण असंतुलन पैदा हो जायगा जोकि बहुत भयानक भी हो सकता है।

- डॉ. सूर्य प्रकाश

संपादक-मंडल

अध्यक्ष

प्रो. देवेन्द्र कुमार चौबे
हिंदी सलाकार

सदस्य

प्रो. सौमित्र मुखर्जी
प्रो. देवेन्द्र कुमार चौबे
डॉ. प्रमोद कुमार
प्रो. डी.के. लोबियाल
डॉ. मणीन्द्र नाथ ठाकुर
प्रो. देवशंकर नवीन
डॉ. अखलाक अहमद 'आहन'
डॉ. सन्तोष कुमार शुक्ल
श्रीमती पूनम एस. कुदेसिया
श्री सुमेर सिंह

प्रबंध संपादन सहयोग
श्री सुमेर सिंह

संपादन सहयोग
श्री शिवम शर्मा

आवरण चित्र
डॉ. गोविन्द प्रसाद

विशेष सहयोग
शिव प्रताप यादव

फोटो
वकील अहमद

संपर्क

संपादक

जेएनयू परिसर

हिंदी एकक

301, प्रशासनिक भवन

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय

नई दिल्ली-110067

दूरभाष : + 91 11 26704023, 26704294

ई-मेल : hindiunit@mail.jnu.ac.in

संपादन/संचालन : अवैतनिक

जेएनयू परिसर

वर्ष : 4, अंक : 7, जनवरी-जून 2016

संपादकीय/2

अध्ययन कक्ष/3

एम. जगदीश कुमार

बातचीत/4

मैनेजर पाण्डेय

लेखक की दुनिया/9

अमृतलाल नागर

आत्मकथा/13

खान अब्दुल गफ्फार खान

अनुवाद : अखलाक 'आहन'

पाठ्यक्रम संवाद : पर्यावरण विज्ञान/20

सतीश चद्र गरकोटी, सौमित्र मुखर्जी, कृष्ण कुमार,

पंडित सुदन खिलारे, जयंत कुमार त्रिपाठी और मीनाक्षी दुआ

संयोजन : सुदेश यादव

अनुवाद की दुनिया/24

देवशंकर नवीन, शिवम शर्मा

काव्य सृजन/30

बद्रीनारायण

कविताएं/32

दुर्गाप्रसाद गुप्त, मकरंद परांजपे

डायरी/34

देवेन्द्र चौबे

यात्रा वृत्तांत/40

पवन कुमार

राजभाषा हिंदी/42

गणपत तेली

लेख/44

मीनाक्षी, बिपुल कुमार, सत्येन्द्र कुमार,

स्वास्थ्य : योग/54

अजय शास्त्री

गंगा ढाबा/56

विजय कुमार

गतिविधियां/58

नीलमणि भारती, प्रवीण वर्मा, अनिसुर रहमान, निशा

जेएनयू की इस गृह पत्रिका में प्रकाशित विचार लेखकों के हैं। उनसे विश्वविद्यालय अथवा संपादक मंडल का सहमत होना अनिवार्य नहीं। उसके लिए लेखक स्वयं उत्तरदायी है।

संपादकीय

जेएनयू परिसर का यह अंक एक ऐसे समय में आपके पास पहुँच रहा है जब भारत समेत पूरी दुनिया एक नयी करवट ले रही है। सबकुछ तेजी से बदल रहा है और साहित्य और समाज सहित ज्ञान-विज्ञान की दुनिया से इतनी तरह की चीजें लोगों तक पहुँच रही हैं कि मनुष्य चकित है। जेएनयू परिसर का जब पहला अंक 2013 में आया था, तब हम सबको इस बात का अनुमान नहीं था कि यह यात्रा जारी रहेगी। तब रूसी भाषा के विद्वान और तत्कालीन हिंदी सलाहकार प्रो. वरयाम सिंह एवं हिंदी अधिकारी श्री के.एम. शर्मा से जब भी जेएनयू परिसर के अंक को लेकर बातचीत होती थी तब वे ऐसी आशा व्यक्त करते थे कि विश्वविद्यालय की एक ऐसी गृह पत्रिका हो जो विश्वविद्यालय समुदाय की होते हुए भी एक ऐसे पाठ के रूप में आये जिसे पढ़कर जेएनयू का समाज, हिंदी के साथ ही बाहर की दुनिया में हो रही गतिविधियों एवं विकास की प्रक्रियाओं की समग्र नहीं तो कम-से-कम एक छोटी-सी झलक जरूर पा सकें। तब उनके सामने प्रो. मैनेजर पाण्डेय के संपादन में 1996 में प्रकाशित इसका पहला अंक था जो किन्हीं कारणों से आगे नहीं निकल पाया था। लेकिन उस अंक की छाप आज भी जेएनयू के पुराने लोगों के मन में बसी हुई है। और बाद में जब उसका पुनर्प्रकाशन हुआ तो उनके संपादन में ऐसा अंक निकला जिसकी तारीफ लोगों ने की। प्रो. गोबिन्द प्रसाद ने उस परंपरा को जारी रखा और अब जब संपादक-मंडल के पुराने सदस्यों में प्रो. सौमित्र मुखर्जी, प्रो. डी.के. लोबियाल, डॉ. मणिंद्रनाथ ठाकुर एवं श्रीमती पूनम एस कुदेसिया सहित नये सदस्यों में प्रो. देवशंकर नवीन, डॉ. अखलाक अहमद आहन एवं डॉ. संतोष शुक्ला सहित डॉ. प्रमोद कुमार एवं श्री सुमेर सिंह, शिवप्रताप यादव, शिवम आदि जैसे हिंदी प्रेमी हों, तब मैं आशा कर सकता हूँ कि यह पत्रिका और बेहतर निकलेगी।

यद्यपि जेएनयू परिसर का यह अंक हमें बहुत ही कम समय में तैयार करना पड़ा तथा संपादक-मंडल के सदस्यों के सहयोग से हम समय पर आपके बीच ला पा रहे हैं, फिर भी इस अंक में हमने प्रयास किया है कि हिंदी पाठकों को ऐसी सामग्री पढ़ने को मिले जिससे उसके ज्ञान का विकास तो हो ही, साथ-ही-साथ उसकी कल्पनाशीलता, सृजनात्मकता और पाठकीयता का भी विकास हो सके। इस अंक में अध्ययन कक्ष के अंतर्गत प्रकाशित विश्वविद्यालय के कुलपति प्रो. एम जगदीश कुमार का नैनो विद्युतीय अभियांत्रिकी पर विचार, प्रसिद्ध आलोचक प्रो. मैनेजर पाण्डेय का साक्षात्कार, पड़ोसी एशियाई मुल्क अफगानिस्तान के खान अब्दुल गफार खान की आत्मकथा का डॉ. अखलाक अहमद आहन द्वारा किया हुआ अनुवाद, अनुवाद पर प्रो. देवशंकर नवीन का लेख, राजभाषा हिंदी को लेकर डॉ. गणपत तेली का लेख, गंगा ढाबा के बहाने परिसर की संस्कृति पर विजय कुमार का अनुभवपरक कॉलम, कवि बद्रीनारायण और दुर्गाप्रसाद गुप्त की कविताएँ, पवन कुमार की डायरी, अजय शास्त्री, मीनाक्षी, बिपुल कुमार, सत्येंद्र कुमार आदि के लेख जेएनयू और यहाँ से पढ़े छात्रों की सृजनात्मकता के परिचायक हैं।

पाठ्यक्रम संवाद परिसर के संपादक-मंडल की एक महत्वाकांक्षी योजना है। इसके जरिये हमारी योजना है कि विश्वविद्यालय की बौद्धिक सृजनशीलता एवं कल्पनाशीलता को सामने लाया जाए ताकि जेएनयू देश के अकादमिक जगत को पाठ्यक्रम के मामले में एक दिशा दे सके। इस बार हमने डॉ. सुदेश यादव के सहयोग से पर्यावरण विज्ञान पर संस्थान के प्राध्यापकों में प्रो. सतीश चंद्र गरकोटी, प्रो. सौमित्र मुखर्जी, प्रो. कृष्ण कुमार, प्रो. पंडित सुदन खिलारे, डॉ. जयंत कुमार त्रिपाठी और मीनाक्षी दुआ के विचार प्रकाशित किये हैं।

अंत में, मैं संपादक-मंडल की तरफ से विश्वविद्यालय समुदाय के उन सभी के प्रति आभार प्रकट करना चाहूँगा, जिनसे जेएनयू परिसर के अंक को लेकर हमारा विचार-विमर्श हुआ और अपेक्षित सहायता प्राप्त हुई।

- देवेंद्र चौबे

मैं हिन्दुस्तान की तूती हूँ, अगर तुम वास्तव में मुझसे कुछ पूछना चाहते हो तो हिन्दवी में पूछो जिसमें कि मैं कुछ अद्भुत बातें बता सकूँ।
- अमीर खुसरो

समूचे हिन्दुस्तान के साथ व्यवहार करने के लिए हमको भारतीय भाषाओं में एक ऐसी भाषा या जवान की जरूरत है, जिसे आज ज्यादा-से-ज्यादा तादाद में लोग जानते और समझते हों और बाकी लोग जिसे झट सीख सकें। इसमें कोई शक नहीं कि हिन्दी ऐसी ही भाषा है।
- महात्मा गाँधी

हमें अपना राष्ट्रीय कार्य, अपना सार्वजनिक अथवा निजी कार्य जहां तक संभव हो सके अपनी विभिन्न भाषाओं में तथा विशेषतः उस भाषा में करना है जिसे आप सारे भारत में प्रयोग के लिए चुने।
- जवाहरलाल नेहरू

नैनो विद्युतीय अभियांत्रिकी

प्रो. एम. जगदीश कुमार



प्रो. एम. जगदीश कुमार जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के कुलपति होने के साथ-साथ विद्युतीय अभियांत्रिकी (इलैक्ट्रिकल इंजीनियरिंग) के प्रसिद्ध विद्वान् भी हैं। इस बार अध्ययन कक्ष में प्रस्तुत हैं, उनके विचार।

विद्युतीय अभियांत्रिकी (इलैक्ट्रिकल इंजीनियरिंग) बहुत विस्तृत क्षेत्र है, जिसमें विद्युत् उपकरण एवं सर्किट से लेकर विद्युत् उत्पादन जैसे कई क्षेत्र शामिल हैं लेकिन मेरी विशेषज्ञता नैनो विद्युतीय अभियांत्रिकी में है। नैनो तकनीक आज एक बहुत प्रसिद्ध शब्द है जिसमें हम चीजों को उनके आकार में बहुत सूक्ष्म करके काम करने का प्रयास करते हैं। विज्ञान की दृष्टि से जब पदार्थ बहुत छोटे होते हैं, तो उनका स्वभाव बदल जाता है और नैनो तकनीक में हम उन स्वभावगत परिवर्तनों का नए एप्लीकेशन बनाने के लिए इस्तेमाल करते हैं। मेरा क्षेत्र इंटीग्रेटेड सर्किट से संबंधित है। इंटीग्रेटेड सर्किट सभी एप्लीकेशन में इस्तेमाल होता है, जैसे - ये स्मार्ट फोन, इंटरनेट, लेपटॉप, कंप्यूटर आदि। इन सभी में इंटीग्रेटेड सर्किट का प्रयोग होता है। लेकिन इंटीग्रेटेड सर्किट के साथ एक समस्या यह है कि बहुत बिजली खाते हैं, इसलिए हम उनसे चल यंत्र नहीं बना सकते हैं। बहुत ही कम समय में बैटरी खत्म हो जाएगी। इसलिए आज नैनो तकनीक में एक चुनौती यह है कि कैसे ऐसे विद्युत् उपकरण बनाए जायं, जो कम बिजली खाते हों। मैं ऐसे उपकरणों पर काम करता हूँ, जो बहुत कम बिजली खाते हैं। हमने आईआईटी, दिल्ली में नैनो रिसर्च फैसिलिटी विकसित की है, जहाँ सिलिकॉन से संबंधित हमारे कुछ विचार मूर्त रूप ले सकते हैं। जेएनयू में भी नैनो तकनीक केन्द्र है, लेकिन वह अभी प्रारंभिक अवस्था में है, उसे और विकसित करना होगा। अब मोबाइल, कंप्यूटर, लेपटॉप आदि हमारे जीवन का हिस्सा बन चुके हैं, इसलिए हम जो काम करते हैं, उसका सीधा प्रभाव दैनंदिन उपयोग में आने वाले यंत्रों पर पड़ता है।

इस क्षेत्र में एक अवधारणा है - इंटरनेट ऑफ थिंग्स (आईओटी)। अब हमारे आस-पास सब जगह सेंसर होंगे। उदाहरण के लिए स्मार्ट सिटी और स्मार्ट होम की अवधारणा भविष्य में प्रचलित होगी। उसके लिए आपको बड़े स्तर पर डेटा इकट्ठा करना होगा। यह डेटा इकट्ठा करने के लिए अलग-अलग जगह सेंसर लगाने होंगे। सड़क सेंसर व्यवस्था केन्द्रीकृत कंप्यूटिंग व्यवस्था से जुड़ी हुई होगी। यह क्लाउड कंप्यूटिंग भी हो सकती है या कोई अन्य सुपर कंप्यूटिंग, जिस पर उक्त डेटा संग्रहित किया जाता है और फिर उस डेटा का विश्लेषण किया जाता है। जब एक जगह पर बहुत-सा डेटा संगृहीत होता है, तो उसे हम बिग डेटा कहते हैं, और इसे आप कैसे विश्लेषित करते हैं जिससे उचित कदम उठाया

जा सके। यह इंटरनेट ऑफ थिंग्स मेरे क्षेत्र की भावी प्रवृत्ति है। नैनो तकनीक ऐसे सिस्टम को विकसित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकती है जो बहुत ही कम बिजली खाता हो। इस तकनीक के विकसित होने के बाद हो सकता है कि भविष्य में आपको आपका मोबाइल की बैटरी साल में सिर्फ एक बार चार्ज करनी पड़े, न कि हर रोज; यह हमारा अंतिम लक्ष्य है।

जब कभी कोई वैज्ञानिक और इंजीनियर नई तकनीक विकसित करता है और वह तकनीक समाज में लोगों द्वारा अपनाई जाती है तो इसके सामाजिक प्रभाव भी होते हैं। उदाहरण के लिए आजकल सभी लोग अपने स्मार्ट फोन के साथ व्यस्त रहते हैं, वे दुनिया भर में लोगों से बात करते हैं, लेकिन घर पर आपस में बात नहीं करते हैं। यह तकनीक का सामाजिक प्रभाव ही है। ऐसे प्रभाव का अध्ययन और विश्लेषण समाजशास्त्री ही कर सकते हैं। इसलिए जब तक वैज्ञानिकों और समाज विज्ञानियों का आपसी सहयोग नहीं होगा, तकनीक का प्रभाव देखा नहीं जा सकता। जेएनयू समाज विज्ञान में विशेषज्ञता के मामले में शीर्ष विश्वविद्यालय है। इस विशेषज्ञता का तकनीकी विकास के अध्ययन में सदुपयोग किया जा सकता है। समाज विज्ञानियों और तकनीकी विशेषज्ञों को एक साथ लाना मेरा एक महत्वपूर्ण उद्देश्य है। जेएनयू में भाषा और तकनीक से जुड़े पहलुओं पर भी काम किया जा रहा है, ये भी एक महत्वपूर्ण क्षेत्र है।

नैनो विद्युतीय अभियांत्रिकी और नैनो तकनीक की सामान्य जानकारी के इच्छुक व्यक्ति के लिए बारहवीं के स्तर के प्राथमिक विज्ञान से परिचित होना आवश्यक है। यदि वे प्राथमिक भौतिक विज्ञान, रसायन विज्ञान और गणित से परिचित हैं, तो नैनो तकनीक के प्रसंग आसानी से समझ सकते हैं।

नैनो विद्युतीय अभियांत्रिकी और नैनो तकनीक तेजी से उभरता हुआ क्षेत्र है। इसमें कई सारी चुनौतियाँ हैं, इसलिए शोध की दृष्टि से यह युवाओं के लिए बहुत अच्छा क्षेत्र है। इस क्षेत्र में नौकरियों की भी बहुत-सी संभावनाएँ हैं। नए उद्योगों की स्थापना की जा सकती है, इसलिए यह न केवल उद्यमकर्ता को स्वरोजगार के अवसर उपलब्ध कराता है, बल्कि उसे अन्य लोगों को रोजगार उपलब्ध कराने का मौका भी देता है। इसलिए नैनो तकनीक के क्षेत्र में काम करने का परिणाम केवल रोजगार पाना ही नहीं, बल्कि रोजगार सृजन भी हो सकता है।

- प्रस्तुति : डॉ. गणपत तेली

साहित्य मूलतः मनुष्य की स्वतंत्रता की अभिव्यक्ति है



हिंदी के प्रसिद्ध आलोचक, विचारक और जेएनयू के भारतीय भाषा केंद्र के पूर्व प्रोफेसर एवं अध्यक्ष प्रो. मैनेजर पाण्डेय अपने जीवन की इस लंबी अवधि में भारत समेत पूरी दुनिया में हो रहे परिवर्तनों के साक्षी रहे हैं। खासकर, साहित्य और विचारधारा में हो रही तब्दीलियों को उन्होंने करीब से देखा और महसूस किया है। इन बातों को समझने के लिए उनके साथ जेएनयू परिसर के संपादक मण्डल के सदस्य और जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के सामाजिक विज्ञान संस्थान के मणीन्द्रनाथ ठाकुर और भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन संस्थान के देवेन्द्र चौबे एवं अखलाक आहन ने एक खास बातचीत की। इस बातचीत में गणपत तेली और मीनाक्षी भी शामिल रहे। यद्यपि इस पूरी बातचीत की शुरुआत प्रारंभिक स्तर पर हिंदी की प्रसिद्ध पत्रिका 'पल प्रतिपल' के लिए हुई थी तथा इसके लिए हम संपादक के प्रति आभार प्रकट करते हैं।

प्रो. पाण्डेय, आपसे बातचीत की शुरुआत हम लोग एक अहं मुद्दे से करना चाहते हैं। हम सब जानते हैं कि आपका दखल केवल साहित्य में ही नहीं है, बल्कि आप समग्रता में सोचते हैं। इसलिए एक वर्तमान समय के एक मूर्धन्य चिंतक के रूप में आपकी जिन विषयों पर पकड़ है, उन पर हम बात करना चाहते हैं। हम जानना चाहेंगे कि आप साहित्य को कैसे परिभाषित करेंगे?

साहित्य शब्द और संसार के बीच विभिन्न तरह के संबंधों की अभिव्यक्ति है। साहित्य की जो एक हजार परिभाषाएँ अच्छी-बुरी दी गई हैं उनके बारे में बात नहीं कर रहा हूँ। मैं जितना समझ रहा हूँ उसके बारे में बात कर रहा हूँ कि साहित्य शब्द और संसार के बीच मुख्य रूप से तीन प्रकार के संबंधों की अभिव्यक्ति है - भावात्मक, बौद्धिक और कल्पना जन्य संबंध। मूलतः यही साहित्य है। अर्थ यह है कि शब्द के बिना साहित्य संभव नहीं है। शब्द को विस्तृत कीजिए तो भाषा है। भाषा के बिना साहित्य संभव नहीं है। लेकिन संसार से संबंध के बिना भाषा और शब्द का भी कोई अर्थ नहीं है। मेरे हिसाब से शब्द का अर्थ से, अर्थ का संवेदना से, संवेदना का अनुभव से, अनुभव का यथार्थ से और यथार्थ का ऐतिहासिक परिस्थितियों से जो संबंध होता है, उसी से भाषा का स्वरूप निर्मित होता है और साहित्य में इन सब चीजों की अभिव्यक्ति होती है। दूसरी बात मैं यह कहना चाहता हूँ कि साहित्य मूलतः मनुष्य की स्वतंत्रता की अभिव्यक्ति है और उसमें स्वतंत्रता के साथ या पक्ष में खड़ा होने की प्रवृत्ति भी है। कोई व्यक्ति जब साहित्य लिखता है तो उसकी सार्थकता इसी बात में है कि जो वह चाहता है, वो लिखता है। मैं इसे संस्कृत के मुहावरे से जोड़ता हूँ कि जो कविता का संसार है, उसका रचियता कवि होता है। उसी को प्रजापति कहा गया है। इस कवि शब्द का सारे संसार की अधिकांश भाषाओं में अर्थ है - सृष्टा अर्थात् निर्माता। संभवतः इसीलिए ईश्वर को अनेक नामों में से एक नाम कवि भी है। साहित्य संक्षेप में यही है। इसको विस्तार से कहें तो शब्द का अर्थ से, अर्थ का संवेदना से, संवेदना का अनुभव से, अनुभव का यथार्थ से और यथार्थ का ऐतिहासिक परिस्थितियों से जो संबंध बनता है, उसी से साहित्य का स्वरूप निर्मित होता है। इन सब चीजों के बदलने का यह परिणाम होता है कि स्वयं साहित्य

बदलता रहता है। सब परिवर्तनशील है अर्थात् संवेदना परिवर्तनशील है अनुभव परिवर्तनशील होने से, अनुभव परिवर्तनशील है यथार्थ से और यथार्थ परिवर्तनशील है ऐतिहासिक संदर्भों के परिवर्तनशील होने से। इसलिए प्राचीन काल से लेकर आज के समय तक साहित्य का स्वरूप बदला रहता है। आखिरी बात मैंने जो कही उसको ध्यान में रखिए कि साहित्य मनुष्य की स्वतंत्रता की अभिव्यक्ति है क्योंकि स्वतंत्रता के बिना सृजन संभव नहीं है। साथ ही वह स्वतंत्रता के पक्ष में, स्वतंत्रता के साथ साहित्य खड़ा भी होता है। ये सारे साहित्य की ये बुनियादी विशेषताएँ हैं।

यदि साहित्य शब्द और संसार के बीच विभिन्न तरह के संबंधों की अभिव्यक्ति है और साहित्य शब्द और संसार के बीच भावात्मक, बौद्धिक और कल्पना जन्य संबंधों की अभिव्यक्ति है तो साहित्य के स्वरूप के बदलाव में समाज की क्या भूमिका होती है?

मैंने साहित्य का जो स्वभाव बताया है, वह छोटे पैमाने पर भी हो सकता है। अर्थात् एक प्रगीत में भी हो सकता है, वहीं बड़े पैमाने पर एक महाकाव्य में भी हो सकता है। जो बड़े पैमाने पर होगा वही काव्य होगा, बड़ी शायरी होगी। मान लीजिए आपके साहित्य की जितनी हमें जानकारी है तो शेर कहना एक सीमा में अपनी बात कहना है लेकिन शाहनामा लिखना बहुत बड़े पैमाने का मामला है। शाहनामा महान रचना होगी और एक कोई स्वतंत्र रूप से गजल कहता है, रूबाई कहता है, उसके हिस्से के रूप में चमकदार शेर कहता है तो महत्त्वपूर्ण होने के बावजूद वो शाहनामा का सामना नहीं कर सकते हैं। पर एक और बात का ध्यान रखिए साहित्य की दुनिया और रूप बहुत सारे कारणों से बदलते रहे हैं। प्राचीन काल में सारी दुनिया में महाकाव्य लिखे गए। रविन्द्रनाथ टैगोर मानते थे कि भारत में सच्चे अर्थों में कम से कम दो महाकाव्य थे - एक, रामायण और दूसरा महाभारत। बाकी कालिदास महाकवि हैं, उसका महाकाव्य कहा जा सकता है, और सूर, तुलसी को तो छोड़ ही दीजिए। वास्तव में, महाकाव्य या किसी भी साहित्य रूप का एक वैचारिक आधार भी होता है। धीरे-धीरे समय और इतिहास बदलने के साथ वो वैचारिक आधार समाप्त हो जाता है, तो उसको बाद के दिनों में लिखना संभव ही नहीं है। साफ तौर

कहूँ तो सारे संसार के प्राचीन साहित्य और मध्यकाल के साहित्य में दैवीय हस्तक्षेप आवश्यक होता है। उसके बिना न रामायण लिखा जा सकता था, न महाभारत। मार्क्स ने लिखा है कि जैसे यूनानी महाकाव्य होमर के 'एलियड' और 'यूडिस' का आधार यूनानी मिथक वाला है और भारत में रामायण और महाभारत का आधार भारतीय मिथक है। अब मध्यकाल के बाद इन मिथकों की सार्थकता, अस्तित्व सब समाप्त हो गया। जब आधुनिक काल में तीन चीजों का एक साथ विकास हुआ: तकनीक, विचारधारा और सामाजिक संरचना का बदलाव, तो इससे महाकाव्य की संभावना ही खत्म हो गई है। वैचारिकी बदलने से व्यक्ति महत्त्वपूर्ण हो गया। समस्त दुनिया में उपन्यास के लिए माना जाता है कि जिस देश और समाज में स्त्री स्वतंत्र नहीं होंगी, वहाँ उपन्यास का विकास ही नहीं हो सकता। वैसा ही हुआ भी फ्रांस की तुलना में उपन्यास का विकास इंग्लैंड में पहले हुआ, फ्रांस में बाद में। भारत में भी यही स्थिति दिखाई देती है। दूसरा, सामन्तवाद के खत्म होने के बाद और पूँजीवाद के आने के बाद व्यक्तिवाद भी साथ-साथ आया। जाहिर है व्यक्ति महत्त्वपूर्ण हुआ। उपन्यास के पात्र देशकालबद्ध होते हैं। वे मिथकों और पुरानी कहानियों की तरह हवाई नहीं होते जैसे कि वे कभी भी हो सकते हैं और कहीं भी हो सकते हैं। गोदान के होरी का देशकाल आप उसके जीवन और संघर्ष को देखकर बता सकते हैं। संभव ही नहीं है कि अकबर के जमाने में होरी हो। होरी केवल ब्रिटिश राज में और सामन्ती जमींदारी आधार की दुनिया में ही हो सकता है। भारतीय समाज की संरचना की अलग विशेषताएँ हैं जिसमें जाति एक महा समस्या है, गोदान में भी है। प्रेमचंद सबको तोड़ रहे थे। गोदान में एक दलित स्त्री से एक पंडित का प्रेम करवाना केवल प्रेमचंद के यहाँ संभव था। महाकाव्य, गीत और कथा कहानी - ये समस्त दुनिया के तीन प्राचीनतम साहित्य रूप हैं। बाद के दिनों में जब गद्य, विशेषकर उपन्यास आया तो वहाँ तकनीक की भूमिका महत्त्वपूर्ण हो गई अर्थात् उपन्यास मौखिक नहीं हो सकता। साहित्य की संस्कृति की भी तीन अवस्थाएँ हैं। शुरू में दुनिया भर का साहित्य मौखिक था, क्योंकि जब लिपि का ही विकास नहीं हुआ था तो लिखा कैसे जाता? लिपि का विकास बहुत बाद में समस्त दुनिया में बारी-बारी से हुआ। एक गीत जिसे कवि रचता था और सौ-दौ सौ-हजार लोगों को सुनाता था उसी में कुछ लोगों को याद भी रह जाता था उसी आधार पर कवि और कविता को स्मृति में लोग रखते थे। इसीलिए प्राचीन भारतीय साहित्य में दो शब्द हैं श्रुति और स्मृति। ये दोनों वास्तव में लिपि के अभाव से पैदा हुआ शब्द है। वेदों के बारे में इसलिए वेदों को श्रुति कहा जाता है। याद करके ही लोग उनका पाठ करते थे। बाद के दिनों में जब लिखित हुआ, साहित्य-संस्कृति की दूसरी अवस्था आई तो दुनिया के सब देशों में नहीं, परंतु भारत में एक विचित्रता है। भारत को पं. जवाहरलाल नेहरू से लेकर समस्त लोग कहते हैं कि भारत विविधताओं का देश है। मैं कहता हूँ भारत विचित्रताओं का देश है। भारत में लेखन की संस्कृति आई तो कविताएं नाटक

लिखे जाने लगे। किंतु यह भी उसके साथ आया कि कौन इसको पढ़ सकता है और कौन नहीं पढ़ सकता है। अर्थात् विधि निषेध भी लागू हो गया - दलित नहीं पढ़ सकते, स्त्रियाँ नहीं पढ़ सकती। तकनीक के विकास ने यह सब बदल दिया। उदाहरण के तौर पर किताब छपी चाहे वो ऋग्वेद ही क्यों न हो। किताब खरीदने के लिए आप दुकान पर गए। दुकानदार ये नहीं पूछेगा कि आप पंडित है कि दलित हैं। शायद किसी को पूछने की जरूरत न हो कि आप पुरुष हो कि स्त्री, वो तो स्वतः दिख ही जाएगा। वह केवल एक बात पूछेगा कि इसकी कीमत पाँच सौ, एक हजार या सौ रुपया है? आपने दिए और आप किताब ले आए। मन करे तो बस में पढ़ो, ट्रेन में पढ़ो, नहा-धो के पढ़ने की कोई शर्त नहीं है। इस तरह से तकनीक ने साहित्य की संस्कृति में लोकतंत्र लाने का काम किया।

आप किस रचना और रचनाकार को महान् मानते हैं?

संस्कृत में दो महान काव्य वाल्मीकि और व्यास के हैं। इसके बाद दो और महान रचनाकार और कवि हैं - कालिदास और भवभूति। मध्यकाल में तीन-चार बड़े कवि हैं कबीरदास, सूरदास, जायसी और तुलसीदास जिन्होंने साहित्य की दिशा बदल दी। थोड़ा पीछे जाएं तो विद्यापति। ये मध्यकाल के बड़े कवि हैं। आधुनिक काल के हिंदी के प्रसंग में अनेक दृष्टियों से दिशा देने और बनाने की दृष्टि से कवि उतने नहीं हैं। बड़े नाटककार हैं - भारतेन्दु हरिश्चंद्र। फिर छायावाद के दो कवि- प्रसाद और निराला। गद्य में जाए तो प्रेमचंद। थोड़ा आगे जाए तो प्रगतिशील आंदोलन के दौर के दो बड़े कवि - नागार्जुन और मुक्तिबोध। उसके बाद के कवियों में असंख्य और अनेक हैं। स्त्रियों में मध्यकाल में केवल एक हैं मीराबाई और आधुनिक काल में अनेक महत्त्वपूर्ण हैं। मेरे लिए महादेवी वर्मा गद्य लेखिका के रूप में ज्यादा महत्त्वपूर्ण है यद्यपि वह छायावाद की कवियों में मानी जाती हैं। उन्होंने स्त्रियों की दशा-दुर्दशा के बारे में जो निबन्ध 'शृंखला की कड़ियाँ' में लिखे गए हैं, वैसी किताब भारत में लिखी ही नहीं गई। मैं तो महादेवी वर्मा को फेमिनिस्ट फिलोसोफर मानता हूँ। जिस पर एकदम किसी ने ध्यान नहीं दिया, हिंदी में भी बहुत पहले नहीं दिया गया। मैंने एक लेख लिखा था, उससे पहले थोड़ी बातें कभी अमृतराय ने लिखी थी। हिंदी के बहुत-सी स्त्रीवादी उस किताब को नहीं जानते। मैंने बहुत को सीमोन द बोउवार पढ़ने से पहले महादेवी वर्मा को पढ़ने की सलाह दी ताकि हिंदुस्तान की स्त्रियों की दशा का बोध हो सके। सीमोन द बोउवार की किताब 'द सेकंड सेक्स' फ्रेंच में सन् 1949 में लिखी गई। यह अंग्रेजी में सन् 1953 में आई। महादेवी जी की 'शृंखला की कड़ियाँ' के निबंध सन् 1935 में लिखे गए और सन् 1942 में तो किताब छप गई थी। परंतु अपने यहाँ की प्रवृत्ति है कि बिना जाने-सुने ही लोग पश्चिम के लेखकों को ज्यादा महत्त्वपूर्ण मानते हैं, अपने यहाँ के लोगों को नहीं।

अब एक सवाल साहित्य और समाज के रिश्तों को लेकर है। क्या आप भी इस बात से सहमत हैं की आज के समय में साहित्य और समाज का संबंध काफी बदलता जा रहा है और ऐसा लग रहा है कि साहित्य का प्रभाव समाज पर घटता जा रहा है? आज हम न पहले की तरह किताबें देखते हैं, न पढ़ने की वैसी संस्कृति है? क्या इस बादलाव के कारण तकनीक का विकास है?

देखिए, पहली बात, पहले ज्ञान और मनोरंजन दोनों का एक मात्र साधन साहित्य था। आजकल जितने बड़े पैमाने पर टेलीविजन और कंप्यूटर के माध्यम से नेट और सोशल नेटवर्किंग आ गया है कि लोगों को इन से ही फुर्सत नहीं है साहित्य की ओर जाने की। दूसरी बात, साहित्य, टेलीविजन, सोशल मीडिया ब्लॉग आदि सब का एक बुनियादी फर्क है। साहित्य की ओर जाने के लिए थोड़ी तैयारी की जरूरत होती है अर्थात् यदि साहित्य से कुछ आप पाना चाहते हो तो साहित्य भाषा का ज्ञान, बुद्धि, कल्पना इन सबकी माँग करता है। टेलीविजन में इनमें से किसी चीज की जरूरत नहीं है। निहायत ही मूर्खतापूर्ण सीरियल लोग देखते हैं। कई लोग देखकर खीजते भी हैं, पर कथा में आमंत्रित करने की एक अद्भुत क्षमता होती है। इसलिए देखते भी हैं और उसपे खीजते भी हैं - क्या बकवास बना रखा है? तीसरी बात, फेसबुक, ब्लॉग में लिखने की कोई जिम्मदारी नहीं है, साहित्य इसकी छूट नहीं देता है। आपको अमुक की कविता पसंद नहीं है, तो साहित्य चुनाव की सुविधा यह देता है। उनकी पसंद नहीं है, अन्य की पढ़ो, उनकी नहीं तो उनकी पढ़ें। परंतु यह नहीं कि लिखा है, उसमें स्वतंत्रता तो अर्थ लगाओ गुलामी आप। यह नहीं चल सकता, ये भाषा की प्रकृति नहीं है। इसमें साहित्य बनता-बिगड़ता है। चूँकि मनोरंजन और ज्ञान दोनों के सस्ते, सतही साधन सुलभ हैं। इसलिए श्रम, कल्पना और बुद्धि के साधन साहित्य और कला, उसकी ओर जाने की लोगों की प्रवृत्ति भी नहीं है, दिलचस्पी भी नहीं है और फुर्सत भी नहीं है। इसलिए साहित्य का प्रभाव कम हुआ। साथ ही, हाल के वर्षों में साहित्य की भाषा और बनावट ऐसी हो रही है कि बहुतों की समझ में ही नहीं आती। जैसे विपरीत निराला ने बहुत जटिल कविताएँ भी लिखी हैं और बहुत सरल भी लिखी हैं। आप 'राम की शक्तिपूजा' नहीं पढ़ सकते तो 'तोड़ती पत्थर' और 'भिक्षुक' तो पढ़ सकते हैं। यहाँ तो कवियों के पास वो गुंजाइश भी नहीं है। एक तरह की भाषा और जिसका लगभग रूप ये बन गया है कि अकबर इलाहाबादी जो शेर मैंने उद्धृत किया है कि- उनका कहा वो आप समझे या खुदा समझे। तो लोग काहे पढ़ें और क्यों पढ़ें? यह कुल मिलाकर अच्छे-बुरे लोकतंत्र का समय है। लोगों का लोकतंत्र का अभी ऐसा है कि नहीं समझ में आता है तो क्यों पढ़ें? क्रीम, बाम लगाकर कोई साहित्य नहीं पढ़ता। इस साहित्य की हैसियत घटने के एक नहीं अनेक कारण हैं। इसके बावजूद ऐसा नहीं है कि सब वीरान हो गया है। नागार्जुन की कविताएँ आंदोलन में सुनाई जाती हैं। कभी-कभी ये होता है कि अकाल में दूब पर लोगों का ध्यान नहीं

जाता है। अकाल के बावजूद दूब पैदा होती है और बढ़ती रहती है परंतु लोग तो आम और पीपल का पेड़ देखेंगे कि सूखा में सूख गया इसलिए पेड़ ही अब नहीं, थोड़ा नीचे भी देखो। अर्थात् यह है कि अब भी हिंदी में ऐसे कवि हैं जिनकी कविता में लोकतंत्र है और भाषा और रचाव में भी लोकतंत्र है। जैसे हम लोगों के परिचित कवि हैं, मदन कश्यप। मदन कश्यप की कविता में लोकतंत्र है मैं उसे लोकतंत्र कहने के बदले जनतंत्र कहना पसंद करूँगा क्योंकि इस समय लोकतंत्र शब्द से मुझे बहुत चिढ़ और चिंता होती है क्योंकि लोक का विरोधी केवल परलोक होता है। लोक में मजदूर, किसान हैं, तो बिड़ला जी आदि भी लोक में ही हैं। इसलिए मैं लोकतंत्र नहीं 'जनतंत्र' कहता हूँ। जन के विरोधी बहुत लोग हैं इसके लिए परलोक जाने की जरूरत नहीं है। कविता में जनतंत्र तीन रूपों में होता है। एक, भीतर अंतर्वस्तु के रूप में जन हों, उसकी वास्तविकताएँ हों, उसकी दुविधाएँ हों और कभी-कभी उसकी सुविधाएँ भी हों। दूसरा, यह कि वह रचाव भाषा के स्तर पर साधारण पढ़े-लिखे लोगों की समझ में आने लायक हो क्योंकि आजकल कविता तो मौखिक रही नहीं। पढ़ी ही जा सकती हैं। उसके लिए एम.ए. पीएच.डी. करने की जरूरत नहीं है। इसलिए मैं यह कह रहा हूँ कि कविता में जनतंत्र इन तीनों कारणों से होता है माने उसमें जन हो, भाषा में सहजता-सुबोधता हो और रचाव या उसकी संरचना में जटिलता न हो। कुछ लोग कहते हैं कि जीवन ही जटिल है, तो कबीर, सूर या प्रेमचंद के जमाने क्या जीवन जटिल नहीं था! आज से तो ज्यादा ही जटिल था। पर वे हर बात को सरल-सुबोध तरीके से कहते थे। आज सहज-सुबोध की वह प्रवृत्ति ही गायब हो गई है। इसलिए साहित्य की समाज में पहुँच और हैसियत दोनों घटने के बहुत सारे कारण हैं।

क्या यह भी एक कारण है कि साहित्यकार समाज से हटकर विश्वविद्यालयों में रहने लगे हैं और सामाजिक सरोकारों के बदले उनके ऊपर संस्थागत सरोकार हावी हो गए हैं?

देखिए, यह सीमित रूप में है। बहुत सारे साहित्यकार हैं, जो विश्वविद्यालयों में नहीं रहते। अब विश्वविद्यालयों में छात्र-छात्राएँ थोड़े बहुत हो भी लेकिन अध्यापक बहुत कम साहित्यकार रह गए हैं। एक-आध थे, जैसे जेएनयू में केदारनाथ सिंह थे। मात्र आलोचना लिखना साहित्यकार होना नहीं है। साहित्यकार होने के लिए थोड़ा सर्जक होना चाहिए। कोई कविता, कहानी, उपन्यास लिखे, तो उसे सही अर्थों में हम साहित्यकार कहेंगे। आलोचना लिखना अध्यापकों की मजबूरी है क्योंकि उसमें प्रमोशन का एक तत्त्व जुड़ा है। किंतु लड़के-लड़कियों में आपको ऐसे मिल जाएँगे कि कुछ कविताएँ लिखते हैं, कुछ कहानियाँ भी लिखते हैं। अब आगे एक और स्थिति हो गई है कि युवा पीढ़ी के जीवन का लक्ष्य बदल गया है। पहले के जमाने में सार्थक जीवन को लोग ज्यादा महत्त्वपूर्ण मानते थे, आज के जमाने में सफल जीवन को ज्यादा महत्त्व देते हैं। सार्थकता हमेशा जीवन की सामाजिक होती है, सफलता हमेशा व्यक्तिगत होती है। ऐसे में कविता, कहानी,

उपन्यास लिखने के लिए आपको अपने से बाहर जाना होगा, दस-दो सौ-दो लाख व्यक्तियों के भाव, विचार, अनुभव, तबाही, बर्बादी किसी से आपका लगाव-जुड़ाव, संवेदना ही नहीं होगी तो क्या कविता, कहानी उपन्यास लिखोगे? तब केवल प्रत्येक व्यक्ति जवानी में प्रेम की कविता लिखता है और बुढ़ापे में बैराग की। वो कविता नहीं होती है, वो उम्र की मजबूरी होती है।

पहले के जमाने में आप जिसके विशेषज्ञ हैं, उस भाषा में ही याद कीजिए यानी फारसी, उर्दू, हिंदी में पहले जमाने में साहित्य के ढोल टाईमर हुआ करते थे। सूर, तुलसी, कबीर केवल कविता करते थे। आधुनिक काल में भी निराला, प्रसाद, पंत, नागार्जुन, शमशेर, त्रिलोचन, नागर जी केवल साहित्य के लिए पूर्णतः समर्पित थे। यही उनका जीवन था। एक तरह से वे होल टाइमर थे। आजकल लोग साहित्य को पार्ट टाइम जॉब समझते हैं। ऐसा लगाव उनका साहित्य में नहीं है, वैसा लगाव जैसा प्रेमचंद का था। प्रेमचंद अपने साहित्य को जीवन-मरण की चीज समझते थे। इसलिए उन्होंने महान् साहित्य लिखा। पार्ट टाइम में न उतनी गहराई होगी, न गंभीरता होगी। उतने बड़े पैमाने पर उस तरह का साहित्य नहीं आ रहा। परंतु दुनिया में संघर्षशील समाज और देश है जैसे लैटिन अमेरिका, 20वीं सदी का अधिकांश महान् साहित्य वहीं लिखा गया। अफ्रीका अब संघर्षशील समाज और देश है। अमेरिका और यूरोप तो लुटेरे हैं।

साहित्य में बुनियादी तत्त्व शब्द है और शब्द समाज से आता है। हमारे यहाँ बड़े कवि हुए हैं जैसे फारसी-उर्दू में इकबाल का नाम ले सकते हैं। हिंदी में प्रसाद-निराला हैं, बंगला में टैगोर हैं। ये हमारी ज्ञान परंपरा से पूरी तरह वाकिफ हैं। जैसे इकबाल फारसी-उर्दू के हैं लेकिन संस्कृत भी उन्होंने पढ़ी। हमारे पुराने ट्रेडिशन को भी बहुत नजदीकी से जानते थे। प्रसाद स्वयं फारसी भी जानते थे और वे भी हमारी एक पूरी ट्रेडिशन था। टैगोर इससे भलीभांति वाकिफ हैं। अब आजादी के बाद की पीढ़ी के साहित्यकार या पढ़े-लिखे लोग इस ट्रेडिशन से कटा हुआ नजर आते हैं। ऐसा नहीं है कि उनमें सृजनात्मक क्षमता नहीं है लेकिन परंपरा से कटने का जो नुकसान है, हो सकता है, उस वजह से महान् साहित्य की संभावनाएँ कम हो गई हों?

आपकी बात में दम है। देखिए, बड़ी रचना परंपरा के ब्यौत और समकालीन संवेदना के टकराव से बड़ी रचना पैदा होती है। परंपरा भाषा की भी होती है, ज्ञान की भी होती है, संवेदना की भी होती है और समकालीनता की भी। इन सबमें जब टकराव होता है और रचनाकार चुनाव करता है, तभी वह नया और महत्वपूर्ण रचना रच सकता है। अब तो स्थिति यह है कि जो पुराने से जुड़े हुए हैं, भारत में संस्कृत जानने वाले लोग समकालीनता को नहीं जानते। समकालीन न समय को जानते हैं, न समाज ठीक से जानते हैं, न संवेदना जानते हैं, न सोच को जानते हैं। उनके लिए बाबा नाम केवलम् - वही जपेंगे। इसके विपरीत दूसरी पीढ़ी का पुराने से कुछ लेना-देना नहीं है। वह नहीं जानती कि कालिदास

ने क्या लिखा है? और कालिदास की शंकुतला में ऐसा क्या है जिसको पढ़कर गेटे मुग्ध हो गए? इसलिए परंपरा और समकालीनता के बीच एक विभाजन पैदा हो गया है। इससे जाहिर है कि रचनाशीलता भी प्रभावित हो रही है।

यह विभाजन क्यों हुआ? क्या इसकी वजह उपनिवेशवाद है?

एक बड़ा कारण उपनिवेशवादी प्रभाव ही है। उपनिवेशवादी हस्तक्षेप की वजह से परंपरा और समकालीनता यह विभाजन पैदा हो गया। एक बौद्ध लेखक अश्वघोष ने जाति-व्यवस्था के खिलाफ 'वज्रसूची' नाम का बहुत महान् ग्रंथ लिखा। मराठी, बांग्ला में यह पहले अनूदित हो गया, हिंदी में बहुत बाद में इसका अनुवाद हुआ, जबकि वे कनिष्क के जमाने के थे। इसे हमारे बुद्धिजीवी भूल गए, याद रह गया कि जाति-व्यवस्था के बारे में पश्चिम के किस लेखक ने क्या लिखा है। यह उपनिवेशवाद का ही प्रभाव है।

भारतीय बुद्धिजीवियों की त्रासदी क्या है? कई भारतीय विद्वान् पश्चिम की आलोचना करते हैं और एक दूरी तक जाते हैं फिर वापस लौट जाते हैं। उससे आगे आलोचना करके कोई एक ऐसा 'दर्शन या उपागम' हमारे लिए नहीं देते हैं जिससे हम अपने आप को तो समझें ही साथ ही साथ पश्चिम को समझ सकें। उनमें से किसी एक विद्वान् मैंने पूछा कि ऐसा क्यों है तो उन्होंने कहा कि 'हमें डर लगता है...।

किस बात से? कि बुलाएंगे नहीं वहाँ? यहीं न होगा।

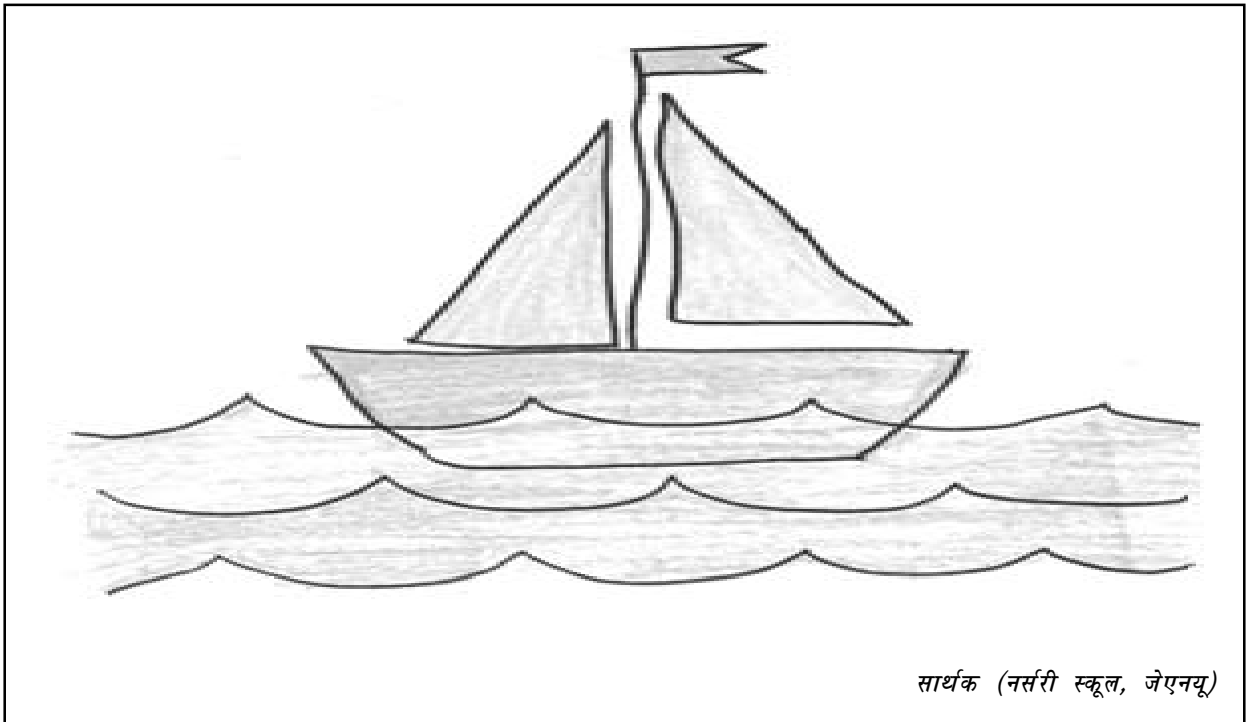
यही बात मैंने एक विद्वान् पूछी कि आपने अपनी महत्वपूर्ण पहली किताब में यह मुद्दा उठाया कि मनुष्य बहुआयामी है, जबकि पश्चिम में ज़्यादातर किसी मनुष्य के स्वभाव के किसी एक आयाम को लेकर पूरा दर्शन रचा दिया गया है। तो इससे आगे की आपकी दूसरी किताब कहाँ है! उनका जवाब था कि कि मुझमें साहस की कमी थी इसलिए नहीं लिख पाया। अब शायद मैं ऐसा कर पाऊँगा। मैं इस विषय पर आपका विचार जानना चाहता हूँ कि कहीं ऐसा तो नहीं है कि साहस की कमी है का कारण बौद्धिक जगत् में पश्चिम विद्वानों के साथ भारतीय विद्वानों का संबंध स्वामी और सेवक जैसे होना है। सेवक के लिए स्वामी को समझना जरूरी है, लेकिन स्वामी हमें समझे इसकी कोई जरूरत नहीं है और हम बार-बार स्वामी से मान्यता पाने के लिए बेचैन हैं।

भारत को उपदेश देने वाले बहुत सारे बुद्धिजीवी हैं जैसे गायत्री चक्रवर्ती, होमी भाभा, दीपेश चक्रवर्ती आदि हैं, कुछ और बंगाली भी हैं, जो उत्तर-औपनिवेशिक विमर्श करते हैं, उनको मैं एनआरआईआई कहता हूँ अर्थात् नॉन रेजिडेंट इंडियन इंटेलिक्चुअल्स। वे रहते अमेरिका में हैं, वहीं के अनुसार सोचते हैं, लिखते हैं, बोलते हैं, और भारत वालों को उपदेश देते हैं। इस तथाकथित उत्तर-औपनिवेशिक विमर्श के नाम से ही चिढ़ है क्योंकि उत्तर-औपनिवेशिकता से जो अर्थ निकलना चाहिए, वह निकलता नहीं है। इसका अर्थ हुआ कि अब दुनिया में कहीं उपनिवेशवाद

जैसा कुछ नहीं है। भारत इसको जानता है, पाकिस्तान इसको जानता है कि उपनिवेशवाद कितना उनकी हर चीज पर हावी है और बढ़ रहा है, फर्क केवल यह है कि पहले यूरोप का होता था, अब अमेरिका का होता है। एक किताब आई है पिछले दिनों विवेक छिब्र की, उसमें उन बुद्धिजीवियों की तेजतर्रार कुट्टमस की है। मुझे उनकी किताब बहुत पसंद आई। वे भारतीय ज्ञान का जो थोड़ा छोंक लगाते हैं, वह केवल साख पैदा करने के लिए है। आप 75 वर्ष के होने को जा रहे हैं। एक साहित्यिक, आलोचक, मार्क्सवादी विचारक के रूप में अपनी जीवन यात्रा को कैसे देखते हैं?

मेरी जीवन यात्रा एक त्रासदी के बाद दूसरी त्रासदी से उबरने में अपनी सारी क्षमता लगाने की रही है। मैं वो सारी कथा कहकर आप सब को दुखी नहीं करना चाहता। मैंने लिखने-पढ़ने की बहुत पहले योजना बनाई थी कि एक नागार्जुन पर किताब लिखूँ। जिस वर्ष मैंने उसके लगभग सौ रफ पेज लिखे, अचानक मेरे पिताजी नहर में डूबकर मर गए। इस घटना की मुझे उस दिन सूचना मिली जिस दिन इंदिरा गाँधी की हत्या हुई थी। उस दिन हम लोग गोष्ठी में गए हुए थे, शहर में हिंसक घटनाएँ होने लगी थी। शाम में तार से पता चला कि मेरे पिताजी गुजर गए लेकिन उसी दिन सिक्ख विरोधी दंगे भी शुरू हो गए। दिल्ली के हालात भी भयावह थे। घर

जा नहीं पा रहा था। मैं तीन दिन आग पर बैठा रहा। हवाई जहाज से भी नहीं जा पा रहा है, वहाँ भी आंशिक कर्फ्यू था। तीसरे चौथे दिन एक विद्यार्थी विजय शंकर चौधरी ने हिम्मत कर मुझे ट्रेन में बिठाया। घर जाने पर सब पता चला। यह सब इतना तनावपूर्ण था कि जब मैं लौटकर आया तो मुझे डायबिटीज हो गई। उसके बाद बाबा नागार्जुन की वह किताब जब मैं खोलता था, तो सारा दृश्य मेरे ऊपर हावी होने लगता। मैंने आज तक वह किताब नहीं लिखी। एक मेरे जीवन का दुख वह है। अब भविष्य में थोड़ी फुर्सत होने के बाद दाराशिकोह पर किताब लिखने की योजना है। उसके बाद नागार्जुन पर अगर सबकुछ ठीक रहा। इसलिए जो अधूरे काम लेखन के प्रसंग में जीवन में रह गए, वही मेरा दुख है। दूसरा दुख यह है कि हम लोग जैसा समाज के बारे में सोचते थे, जो उम्मीद करते थे, जिसके लिए लिखते-पढ़ते रहे, उसकी अब सब संभावनाएँ ही खत्म होती दिखाई दे रही है। इस प्रसंग में मुझे मुक्तिबोध की एक कविता याद आती है - 'अब तक क्या किया/जीवन क्या जिया?' वही दशा दिखाई दे रही है। इसका दुख है कि व्यक्तिगत त्रासदी और सामाजिक-राजनीतिक त्रासदी का कुल मिलाकर दिमाग पर असर है, पर फिर भी उसको किनारे करके कुछ करता रहता हूँ। कुछ लोगों को पसंद भी आता है। संतोष का यही कारण है।



सार्थक (नर्सरी स्कूल, जेएनयू)

शकीला की मां

अमृतलाल नागर



अमृतलाल नागर (1916-1990) हिंदी के प्रसिद्ध कथाकार हैं। इनके जन्मशती वर्ष के अवसर पर प्रस्तुत है उनकी प्रसिद्ध कहानी 'शकीला की मां'। कहानी उपलब्ध कराने के लिए हम विशेष रूप से उनके परिवार के सदस्यों के आभारी हैं।

केले और अमरूद के तीन-चार पेड़ों में घिरा कच्चा। नवाबी युग की याद में मर्सिया पढ़ती हुई तीन-चार कोठरियां। एक से जमीलन, दूसरी में जमलिया, तीसरी में शकीला, शहजादी, मुहम्मदी। वह 'उजड़े पर वालों' के ठहरने की सराय थी।

एक दिन जमीलन की लड़की शकीला, दो घण्टे में अपनी मौसी के यहां से लौट आने की बात कह, किसी के साथ कहीं चल दी। इसपर घर में जो चख-चख और तोबा-तिल्ला मचा, उसे देखने में लोगों को बड़ा मचा आया। दिन-भर बाजार के मनचले दुकानदारों की ज़बान पर शकीला की ही चर्चा रही और, तीसरे दिन सबेरे, आश्चर्य-सी वह लौट भी आई। लोगों ने देखा - कानों में लाल-हरे नग जड़े सोने के झुमके, 'धनुशबानी' रंग की चुनरी, गोटा टंका रेशमी कुरता और लहंगा।

घर की चौखट पर पैर रखते ही पहले-पहल, मुहम्मदी ने थोड़ा मुस्कराकर, उसकी ठोड़ी को अपनी उंगलियों की चुटकी से दबाते हुए पूछा, "ओ-हो-री झंको बीबी, दो दिन कहां रही?"

शकीला केवल मुस्कराकर आगे बढ़ गई।

झब्बन मियां की दाढ़ी में कितने बाल हैं, अथवा उनकी नुमायशी तोंद का वज़न कितना है, यह तो आपको शहजादी ही बता सकेगी। हाजमीलन, उनका सिर इस समय पचास-पचपन के करीब होगा, यह आसानी से जाना जा सकता है। एक दिन जब आप खुदा के नूर में खिजाब लगाकर शकीला से हंस-हंसकर कुछ फरमा रहे थे, तब शहजादी ने उनके जवान दिल पर कितनी बार थूका था, मुहम्मदी उसकी गवाह है।

चारपाई पर बैठे-बैठे पंख झलते हुए मियां झब्बन ने शकीला को देखा। दाढ़ी-मूछों के काले-सफेद बालों में एक बार बिजली-सी चमकी। फिर कहा, "आह-हाय, यह गजब। यह ठाठ!! कहां चली गई थी तुम?"

चुनरी से सिर को अच्छी तरह ढककर कनखियों से देखते हुए शकीला ने कहा, "कानपूर।"

शहजादी ने वैसे ही कोठरी के बाहर आकर देखा, शकीला। मुंह बिचकाकर दोनों हाथों को सहज ढील पर छोड़ते हुए बोली, "ऊं-हूं? अब तो बेगम साहिबा के कदम क्यों जमीन पर पड़ेंगे? हां भई, यार लोग सलामत रहें, चलो अच्छा है। ...लेकिन कहे देती हूं, मेरे घर यह छिनाला नहीं चलेगा, हां!"

शकीला पर जैसे गाज गिर गई। पत्थर की मूर्ति की तरह, जैसे खड़ी हुई थी, वैसे ही रह गई।

शहजादी का अंग-अंग, उस समय, फड़क-फड़ककर एक अजीब दृश्य उपस्थित कर रहा था - हाथ कभी इधर, कभी उधर, आंखें कभी पृथ्वी और कभी आकाश की ओर। चालीस से कुछ ऊपर का सिन। घर की चहारदीवारी के अन्दर सिर पर दुपट्टा डाल लेने की कोई जरूरत भी ही नहीं। फिर झब्बन मियां को लुभाना भी न था - शायद इसीलिए वह 'बाडी' नहीं पहनती और मैले कुरते के सब बटन भी खुले ही रहते हैं। पान के कथे से रंगीले ओठ रसीले हैं या नहीं, इसे झब्बन मियां बता तो सकते थे, परन्तु वे आज तक किसी भी अंग्रेजी पढ़े-लिखे आदमी के पास बैठे तक नहीं। फिर भी, उन रसीले ओठों से बात करते समय हमेशा 'पराग' बिखरता है, इसे तो बहुत लोग जानते हैं। शहजादी कह रही थी, "ऐ, कभी हमारे भी जवानी के दिन थे, हमने भी जमाना देखा है, लेकिन यह सिन और यह सितम - ऐसी जवानी पर खुदा की मार।"

अपनी कोठरी के सामने वाले दालान में चारपाई पर बैठी हुई जमीलन रोटी खा रही थी। शहजादी के बखान से उसे शकीला के आने की सूचना मिल चुकी थी, फिर भी वह उठी नहीं, चुपचाप सुनती ही रही।

और शहजादी बिना रुके ही कहे जा रही थी, "मुई के मिज़ाज तो देखो। ऊं-हूं, यह उसका! जैसे हज़ार-दो-हज़ार कमा लाई हो। अल्लाह ने जरा सूरत दी होती तो ज़मीन पर पैर ही न पड़ते। उफ री नज़ाकत!" मुंह बिचकाकर, गाल पर उंगली रख, आंखें चढ़ाते हुए उसने इस अन्दाज़ से गर्दन मटकाई कि... खुदा की पनाह।

सहनशीलता की भी एक हद होती है। यह ठीक है कि शकीला के भाग जाने पर जमीलन ने 'परवरदिगार' से उसकी मौत मांगी थी, लेकिन आज, अपनी आंखों के सामने अपनी लड़की के लिए इतनी तीखी बातें सुनने को वह हरगिज तैयार न थी। मुंह का कौर जो बहुत देर से दांतों का अत्याचार सहन कर रहा था, आधे लोटे पानी के सहारे पेट में पहुंच गया। जमीलन ने दालान के बाहर आकर आवाज दी, "सकीला! चल इधर आ।"

किसी स्वप्न को देखते-देखते शकीला जैसे चौंक-सी उठी। मां की आवाज सुनकर उसने अपने को सम्भाला और फिर अपनी कोठरी में चली गई।

आग दोनों तरफ बराबर सुलग रही थी। शहजादी अभी कुछ और कहना चाहती थी, और जमीलन का दिल भी अन्दर घुमड़ रहा था। आखिर जमीलन से रहा न गया। अपने-आप ही 'किसी' को

सुनाकर कहने लगी, “जिन्दगी-भर दुअन्नी-चवन्नी पर कलमा पढ़ा की, अब किसी की बढ़ती देखकर आंखें फटती है? वाह रे ज़माना, बुरा हो तेरा।”

“ऐ, तो ज़माने को क्या कोसती हो? मुझे कोसो, मुझे। है हिम्मत? शहजादी फट पड़ी।

“भैं क्यों किसी को कोसूं - मुझे गरज? तुम्हें क्यों चिनगी लगती है?”

“है-है, लगे नहीं। लेके कोस डाला... बुरा हो, बुरा हो - वाह।”

“और मेरी आंखों के सामने घंटा-भर से जो तुम मेरी लड़की को कोस रही थीं, वह कुछ नहीं। ...दिन-भर बहन-बहन कहो, वह मौसी-मौसी रटे, और मौसी मुई जब देखो तब कोसा-काटी। ऐसी मौसी के मुंह में आग। बड़ी मौसी...।”

जमीलन की बात पूरी न हो पाई थी कि शहजादी लपककर उसके पास जा खड़ी हुई, “ले, रख आग, ले रख, रखना? मुई छिनाल, रण्डी, बदजात...।”

शहजादी हांफ रही थी।

“और तुम कौन हो? दूसरे को तो रण्डी, छिनाल, बदजात और आप बिचारी बड़ी पाक-साफ है न? वह दिन भूल गई बीबी, जब कम्पनीबाग में अपने चहेते के साथ पकड़ी गई थी? रह तो आई हो तीन दिन तक हवालात में। मुई दो कौड़ी के सिपाहियों ने दुर्गत कर तो दी थी...? नहीं, अब वह भूल गई। अपनी वाली कैसे कहे?”

“हां-हां, मेरे तो दो कौड़ी के सिपाही थे, तेरे यार तो बड़े लाट के बच्चे थे?”

“थे ही, और ले ही आए मेरे ज़रा से इशारे पर तुझे छुड़ाकर। वरना मर जाती जिन्दगी-भर जेल में चक्की पीसते-पीसते।”

“ऐ, कौन किसका खून किया था, डाका डाला था, जो जिन्दगी-भर जेल में पड़ी रहती? बड़ी आई छुड़ाने वाली - कुत्ती कहीं की?”

जमीलन के तन में आग लग गई। लपककर शहजादी की गर्दन नापी। सब लोग बचाने के लिए ‘हैं-हैं’ करते हुए दौड़ पड़े। जमीलन उसका गला छोड़कर अपने दालान में चली आई।

दोनों हाथों को बार-बार ऊपर की ओर उठाकर चिल्ला-चिल्लाकर शहजादी कहने लगी, “अल्लाह करे, आधी रात में इसकी लाश मचमचाती हुई निकले। अल्लाह करे, इसके तन-मन में कीड़े पड़ें। अल्लाह करे...।”

और फिर अपनी असमर्थता को पछाड़ने के अन्तिम प्रयत्न में वह ढह गई। मियां झबन ने लपककर चारपाई से पंखा उठाया और उसके सिर को अपनी गोद में रखकर पंखा झलने लगे।

जमीलन खाना खाने बैठी, पर उससे ठीक तरह से खाया नहीं गया। थाली एक ओर सरकाकर गड्डुए से हाथ धोते-धोते उसने आवाज़ दी, “सकीला!”

शकीला अपनी कोठरी से निकलकर चुपचाप उसके पास खड़ी हो गई। जमीलन ने पानदान को अपनी ओर खिसकाकर उसका ढक्कन खोलते हुए पूछा, “कहां गई थी?”

“कानपुर”... चारपाई के एक कोने का सहारा लेकर पायताने की डोरी पर हाथ फेरते हुए सिर झुकाए उसने उत्तर दिया।

“किसके साथ गई थी?”

“मुन्ना के साथ।”

“कौन मुन्ना?”

“रामलाल का लड़का।”

“रामलाल कौन? सराफे वाले?”

इस बार मां की आंखों से आंखें मिलाकर शकीला ने उत्तर दिया, “वह नहीं। अरे वही सुनार, सब्जी मंडी वाला।”

पेशानी पर बल डाल, आंखें चमका, बात समझते हुए जमीलन ने कहा, “हूं।”

और फिर पान पर कत्था लगाने लगी।

शकीला चुप बैठी थी।

पान के बीड़े मुंह में दबाकर दामन से हाथ पोंछते हुए जमीलन ने पूछा, “मिला क्या?”

शकीला ने कमर से रेशमी बटुआ निकालकर दस-दस के दो नोट मां की हथेली पर रख दिए।

मुट्ठी में नोटों को दबाते हुए कोमल स्वर में जमीलन ने कहा, “तो कहके क्यों नहीं गई थी?”

शकीला सिर झुकाकर चुपचाप बैठी रही।

थोड़ी देर बाद जमीलन स्नेहपूर्वक बोली - “अच्छा जा। कपड़े बदल। मैं बजार से पूड़ी मंगाए देती हूं।” जमीलन उठी और गली में आकर खड़ी हो गई, पूड़ी मंगाने के लिए वह किसी परिचित को खोज रही थी। संयोगवश मियां बुलाकी थोड़ी देर बाद उधर से निकले। अदा के साथ मुस्कराते हुए बुलाकी मियां ने कहा, “किसका इन्तजार हो रहा है?”

“तुम्हारा ही”, जमीलन ने जरा मुस्कराकर उत्तर दिया।

“ओफ, ओह! खुदा के लिए इतना झूठ न बोलो तो क्या हो जाए?”

“अपनी जान-कसम, झूठ नहीं। सोच रही थी, इधर से कोई आता-जाता दिखाई पड़े। सकीला भूखी बैठी है, बजार से पूड़ी मंगानी थी। जरा तुम्हीं ले आओ लपक के।”

अकेली गली में खड़े-खड़े मूंछों पर हाथ फेरते हुए तृषित नेत्रों से उसने एक बार जमीलन की ओर ताका और फिर उसके कंधे पर हाथ रखते हुए कहा, “बोलो क्या मंगाती हो? लाओ, ले आऊं?”

जमीलन ने अठन्नी का नुस्का बतला दिया। बुलाकी मियां जाने लगे। जमीलन ने पुकारकर कहा, “अरे, पैसे तो लेते जाओ।”

पीछे की ओर गर्दन घुमाकर मियां बुलाकी चलते-चलते बोले, “रख लो, फिर काम आएंगे।”

उसी दिन शाम को जमीलन ने शकीला को मारते-मारते अधमरी कर डाला। बड़ी मुश्किल से मुहम्मदी उसे बचा सकी। मियां झबन अलग से ही आंसू-भरी आंखों से उसे देखते रहे। शकीला रो-रोकर कह रही थी, “हाय मरी, हाय मरी।” जमीलन घूंसें और थप्पड़ों से उसकी पूजा करती हुई हांफ-हांफकर कह रही थी, “जा, जा न, और जाएगी?”

मुहम्मदी अपनी पुरजोर शक्ति से जमीलन को पीछे ढकेलती हुई कह रही थी, “अरे बस-बस। बहुत हुआ। छोड़ दो उसे। अब मत मारो।” और शहजादी ने दूर ही से हाथ और आंखें नचाकर धीरे से कहा, “वाह रे जोम! ओफ हो, तोबा रे तोबा”, कहकर उसने अपने गालों पर धीरे-से चपत मारकर कान उमेठ लिए।

शकीला का अपराध दंड को देखते हुए बहुत कम था। बात यह थी कि शकीला ने शाम के वक्त जाकर शहजादी से बड़े लहजे के साथ कहा, “मौसी, आज पान नहीं खिलाओगी?”

आए दिन होने वाले कलह और सुलह की तरह शकीला ने आज भी सन्धि हुई जान ली थी। पर शहजादी उस दिन बेहद चिढ़ी हुई थी। इसी से उसने शकीला को हज़ारों जली-कटी बातें सुनाई।

जमीलन का चेहरा क्रोध से तमतमा उठा। शीघ्रतापूर्वक आकर शकीला को घसीटती हुई अपनी कोठरी की तरफ ले गई, “ले, और जाएगी? ले-ले।” धम-धम-धमाधम... शकीला फिर खूब पीटी गई।

मुहम्मदी के बीच-बचाव करने से छुटकारा पाकर ज़ोर-ज़ोर से सिसकती हुई शकीला अपनी कोठरी में चली गई और जमीलन हाँफते-हाँफते अपनी चारपाई पर।

रात के आठ बजे किसी ने दरवाजे पर थपक दी। जमीलन चारपाई से उठकर चटर-पटर चप्पलें चटकाती हुई गई और कुण्डी खोलकर देखा, मुन्ना।

“आइए, आइए”, मुस्कराने का निष्फल प्रयत्न करते हुए जमीलन ने उसका स्वागत किया। जरा-सी बात पर शकीला को कितना मारा - रह-रहकर उसे इसी का ध्यान हो आता था।

मुन्ना ने पूछा, “शकीला कहां है?”

“अभी बुलाती हूं। आप ऊपर तशरीफ रक्खें।”

ऊपर छत पर एक काठ का छोटा-सा कमरा था - वही उसकी रूप की दूकान थी।

मुन्ना को ऊपर के कमरे में बैठाकर उसने नीचे आकर शकीला की कोठरी के किवाड़ों को थपथपाया।

“सकीला, अरी सकीला! जरी कुंडा खोल तो बिटिया!”

शकीला ने कोई उत्तर न दिया।

“अरी मुन्ना बाबू आए हैं?”

किवाड़ तब भी बन्द रहे। बड़ी देर बाद मां के बार-बार मिन्नत करने पर उसने कुंडी खोल दी।

उसके सिर पर प्रेम के साथ हाथ फेरते हुए उसने कहा, “क्यों गई थी उस जल-मुंही, मरी-पीटी के पास?”

शकीला तकिये में मुंह छिपाए जोर-जोर से सिसकने लगी। जमीलन भी रो पड़ी, “तुझे मेरे सिर की कसम। अब न रो मेरी बिटिया। उठ तो मेरी रानी। उठ, उठ।”

थोड़ी देर बाद अपने को सम्भालकर जमीलन ने उससे कहा और हाथ पकड़कर उसे उठाना चाहा।

अपनी छाती से शकीला को कसकर जमीलन रोजे लगी, और शकीला भी। सिसकियों और आंसुओं के बीच जमीलन ने कहा, “अल्लाह करे, मेरे ये हाथ गल जाएं। मेरी बेटी, मेरी बच्ची!” वह उसके मस्तक को दोनों हाथों से अपनी छाती पर कसकर दबाए थी।

मुहम्मदी ने कोठरी के द्वार पर खड़े होकर उस दृश्य को देखा और फिर जमीलन से कहने लगी, “पहले तो ले के पीट डाला, और अब फफड़-दलाली करने चली है वाह री मौसी! ऐसे मना रही हो, अल्लाह कहीं सचमुच ही तुम्हारी बाहें न काट डाले।”

“...शकीला! चल उठ, हाथ-मुंह धो। रहने दे अब अपने नखरे। चल-चल, यह चोंचलेबाजी ऊपर जाकर दिखाना। दो-एक झुमके और मिल जाएंगे। सुनार का बेटा है कि बातें।”

मुहम्मदी ने उसका हाथ पकड़कर अपनी ओर घसीट लिया। वह मुस्करा रही थी, सूजे-से जलमग्न नेत्रों से उसकी ओर देखकर शकीला भी एक बार मुस्करा दी।

मुहम्मदी की मदद से हाथ-मुंह धोया, साड़ी बदली, पान खाया और ऊपर चली गई। ...और ऐसे ही सारी रात बीत गई। सुबह उठकर मुन्ना ने देखा, शकीला बिस्तर पर न थी। उसने जमीलन से पूछा। शकीला को आवाजें दीं, मुहम्मदी से पूछा, झबन से पूछा, शहजादी से भी पूछा। शकीला कहीं भी न थी। एकाएक उसने देखा, ड्योढ़ी की अर्गला तो खुली थी, पर किवाड़ भिड़े हुए थे। दोनों हाथों से अपना कपाल पीटकर वह रो पड़ी।

शकीला सचमुच फिर भाग गई थी।

एक दिन, दो दिन, दस दिन, महीना, डेढ़ महीना - कुछ पता नहीं। जमीलन के लिए धरती जैसे उसकी शकीला को निगल ही गई थी। वह दरोगा जी की खिदमत में गई, ‘हवलदारों’ की पाशविक मनोवृत्तियों की छाप अपने गालों और... और अवनत स्तनों पर लगाकर लौट आई। परन्तु शकीला न आई, न आई।

जवानी की कमाई की बची-खुची स्मृतियों को एक-एक कर उसने बेचा और खा डाला। अच्छा भोजन किया, दिन में चार बार सिंगार करना शुरू किया। मुहम्मदी को अकेले में बुलाकर जमीलन कहती, “जरी मेरी चोटी तो कस दे, मेरी गुड़ियां। आय-हाय, आज तो तू बड़ी खूबसूरत जंच रही है।”

बात समझकर मुहम्मदी जमीलन का जूड़ा बांधते-बांधते कहती,

“लेकिन मौसी, तुमसे कम ही कम। गजब ढाती हो तुम तो।” सारा बाजार तुम्हें देखता है घूर-घूरकर, जैसे कोई हूर खड़ी हो?

ए चल हट, मुई! तुझे बातें बनाना खूब आता है। मन ही मन प्रसन्न और गर्वित हो जमीलन उसे उत्तर देती।

दिन चुपचाप यों ही बीत रहे थे। जमीलन बड़े सजाव के साथ बाजार के आने-जाने वालों को देखती। बहुत-से उसे भी देखते, परन्तु आता उसके यहां कोई भी न था।

एक दिन मुहम्मदी भी कहीं चली गई - तीन दिन के लिए। जमीलन के लिए वे दिन कयामत के दिन थे।

सुनसान गली में खड़ी हो आंखें फाड़-फाड़कर जमीलन जैसे कुछ खोज रही थी। बाजार में जाते हुए मुन्ना को उसने देखा। वह दौड़ी हुई गई मुन्ना को बुलाने। वह भी उधर ही आ रहा था।

मुन्ना ने पूछा, “शकीला आ गई,”

“सकीला गई भाड़ में! उससे तुम्हें क्या मतलब?” कह उसने मुन्ना का हाथ पकड़ लिया और घर में ले गई।

चारपाई पर उसे बिठाकर बोली, “तुम तो अब आते भी नहीं, क्यों?”

“क्या करूँ? किसके लिए आऊँ?” मुन्ना जमीलन को यह दिखाना चाहता था कि उसे शकीला से कितना अधिक प्रेम था और अब भी बाकी है।

कटीली कनखियों से देखते हुए उसका हाथ अपने हाथ में दबाकर उसने कहा, “क्यों? क्या मैं खूबसूरत नहीं हूँ? बोलो, प्यारे बोलो।”

फिर दोनों हाथ सिर के पीछे बांध, छत की कड़ियों की ओर देखते हुए झूमकर गुनगुनाना शुरू किया :

क्या इश्क ने समझा है,

क्या हुस्न ने जाना है!

हम खाक-नशीनों की,

ठोकर पै जमाना है!

गाकर उसने एक बार मुन्ना की ओर देखा और फिर हंस पड़ी। उसके पास सरक, अंगड़ाई लेते हुए उसने पूछा, “आज चुप क्यों हो? मेरी जान?”

मुन्ना अचानक उठा। वह क्या बताए कि वह चुप क्यों है? कुछ देर बाद जमीलन ने फिर पूछा, “हमसे कुछ खफा हो?”

मुन्ना ने मुस्कराकर उत्तर दिया, “नहीं तो, भला तुमसे कौन खफा हो सकता है? हां, यह तो बताओ कि आज घर में और सब कहां हैं?”

जमीलन ने मुँह फुलाकर आंखे तरेरते हुए हाथ से मुन्ना को धीमा-सा धक्का देकर कहा, “तुम्हें दूसरों से क्या मतलब? ऐ, हां, तब से हजार बार पूछ चुके हो, शकीला कहां है, फलानी कहां है, डिमाकी नहीं दिखायी पड़ती? कोई तो आप पर जान दे और आप ऐसे कि...?”

मुन्ना चुपचाप बैठा हुआ उसकी ओर ताक रहा था। जमीलन कुछ देर चुप रही, फिर कनखियों से देखते हुए मुस्करा पड़ी।

वह मुन्ना के और पास खिसक आई, खिसकती ही आई और उसकी गोदी में अपने-आपको बिलकुल ढीला छोड़ दिया।

मुन्ना अजब उलझन में पड़ा। वह जमीलन से पीछा छुड़ाना चाहता था। उसने कहा, “अच्छा, इस वक्त जाने दो। मुझे काम है। फिर आऊंगा।”

मुन्ना अपने को अलग करने की कोशिश करने जा ही रहा था कि जमीलन ने उसे अपनी ओर खींचकर अपनापन जताते हुए कहा, “यह भी जाने का कोई वक्त है? नहीं, अब न जाने पाओगे।”

जमीलन की सारी चेष्टाएं मुन्ना को अपनी ओर खींचने का प्रयत्न कर रही थी। उत्साहित होकर वह अपनी एक-एक बदा से, बचपन से लेकर अब तक आजमाए हुए प्रयोगों से, उन्मत्त होकर मुन्ना को रिझाना चाहती थी। उस वक्त उसकी बांकी अदा में कितना बांकापन था, कितना मजा था, कितना...!

मुन्ना सचमुच में घबरा उठा था।

आखिर उससे न रहा गया। अपनी पूरी ताकत से जमीलन को ढकेलकर भागा-भागा।

जमीलन दूर जा पड़ी। समूची शक्ति लगाकर उठना चाहा, पर उठ न सकी, वहीं ढह गई। अकर्मण्य रोष घुमड़-घुमड़कर उसके अंग-अंग को जैसे उमेठ रहा था। होंठ बार-बार पफड़पफड़ाकर रह जाते थे, मानों कह रहे हों, “शकीला, आ जा बेटी, आ जा।”

जैसे उसकी दोनों बांहें टूट गई थीं, मुहम्मदी भी नहीं, शकीला भी नहीं, और वह भूखी थी।

रचनाएँ आमंत्रित

जेएनयू परिसर के आगामी अंकों के लिए रचनाएँ आमंत्रित हैं। कृपया अपने स्तरीय लेख, कहानी, कविता, समीक्षा, संस्मरण आदि सॉफ्ट व हार्ड कापी में अपनी फोटो सहित निम्नलिखित पते पर भिजवाएं : प्रबंध संपादक, जेएनयू परिसर, हिंदी यूनिट, 301, प्रशासन भवन, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली-110067, फोन नं. 011-26704023, ईमेल : hindiunit@mail.jnu.ac.in

भारत छोड़ो आंदोलन

खान अब्दुल गफार खान

पश्तो से अनुवाद : अखलाक आहन



जिस समय क्रिप्स मिशन असफल हो गया तो हिंदुस्तान के लोगों में मायूसी फैल गई और उन्हें यह चिंता उत्पन्न हुई कि बिना संघर्ष किए अंग्रेज़ हमें कुछ नहीं देंगे। उन्ही दिनों मुंबई में वर्किंग कमेटी का अधिवेशन था। कांग्रेस ने भारत छोड़ो आंदोलन का प्रस्ताव पास किया। महात्मा गांधी और वर्किंग कमेटी के सारे सदस्य गिरफ्तार कर लिए गये। उनके पकड़े जाते ही समस्त हिंदुस्तान में अंग्रेज़ों के विरुद्ध ज़ोरदार संघर्ष शुरू हो गया। कांग्रेस के सारे ज़िम्मेदार कार्यकर्ता पकड़ लिए गए थे, पीछे कोई ज़िम्मेदार व्यक्ति और नेता नहीं बचा था और लोग भी अंग्रेज़ों से मायूस हो चुके थे तो लोग अहिंसा की नीति को त्याग हिंसा के रास्ते पर चल पड़े। अंग्रेज़ों ने हिंसा का मुक़ाबला हिंसा से किया और अंग्रेज़ चाहते भी यही थे। अहिंसा का सामना करने के लिए उन्हें कोई उपाय नहीं मिलता था और हिंसा का तो उनके पास इतना सामान था कि बहुत शीघ्र ही उन्होंने हिंसा के आंदोलन को खत्म कर दिया और लोगों पर इतना ज़ोर जुल्म और ज़्यादती की कि दुनिया में वहशी से वहशी क़ौम ने किसी पर नहीं किए होंगे। पुरुषों को तो छोड़िए औरतों के साथ ऐसा सलूक किया कि लिखने में भी मुझे शर्म आती है। वे दोषी और निर्दोष की तमीज़ नहीं कर रहे थे। दुश्मनों ने अपने कुछ वफादार दोस्तों की औरतों के साथ तब अधिक शर्मनाक सलूक किया। ऐसी घटनाएँ इसमें हुई हैं कि अंग्रेज़ों ने फौज और पुलिस की कार्यवाही के अलावा गांवों पर हवाई जहाज़ द्वारा मशीनगनों से गोलियाँ बरसाई हैं और बम डाले। सूबा-सरहद में हमारी समिति और खुदाई ख़िदमतगार एकत्रित हुए, ताकि इस बात पर सोच-विचार करें कि इस समय हमें क्या कार्य करना चाहिए। कांग्रेस ने हिंदुस्तान के हर प्रांत में संघर्ष के लिए एक डायरेक्टर नियुक्त किया हुआ था, इस तरह मुझे भी यहाँ अपने प्रांत का डायरेक्टर नियुक्त किया गया था। हाजी फ़कीर ख़ान ने मुझे इस अधिवेशन में कहा कि आप तो इस प्रांत के डायरेक्टर नियुक्त हो गए हैं, हमसे क्या कार्य चाहिए, हुक्म करें, हम उसका अनुसरण करेंगे। मैंने उनसे कहा कि यह बात तो ठीक है, लेकिन मेरे नेचर में डिक्टेटरशिप नहीं है, मैं हर एक कार्य दोस्तों के मशविरों से करता हूँ। एक दिमाग के स्थान पर कई दिमागों का फ़ैसला बेहतर होता है। अधिवेशन में हज़ारे के हाजी फ़कीर ख़ान ने ही कहा कि हमें चाहिए कि तारों को काट दें, पुलों को उजाड़ दें। मैंने उनसे कहा कि यह हिंसा है, परंतु फिर भी आपको अनुमति दूंगा, लेकिन इतना कहता हूँ कि जो व्यक्ति तार काटेगा

या पुल उजाड़ेगा तो सीधे थाने में जाएगा और रिपोर्ट करेगा कि यह कार्य मैंने किया है, क्योंकि मैं अंग्रेज़ों का शासन नहीं चाहता, इससे फायदा यह होगा कि इस कार्य की वजह से गाँव के आम लोगों पर हिंसा नहीं होगी, प्रत्येक को जो सज़ा होगी वह स्वयं सहन करेगा और यदि ऐसा नहीं किया तो गाँव के लोगों पर बहुत हिंसा होगी और उनकी हमारे साथ जो हमदर्दी है, वह समाप्त हो जाएगी तो यह सुझाव अपनी जगह पर रह गया, पास नहीं हुआ। दूसरा सुझाव मैंने रखा कि आरम्भ में हमें मिशन सभी अदालतों और सभी डी.सी. आफिसों में भेजने चाहिए जो उनसे कहे कि भारत छोड़ो प्रस्ताव पास हो चुका है तो आपको नौकरियाँ छोड़ देनी चाहिए। एक सुझाव यहाँ पास हुआ कि हम अंग्रेज़ी अदालतों का घेराव करेंगे और उनकी कुर्सियाँ हटाएंगे और आम लोगों से कहेंगे कि आप अपने फ़ैसले अपने घरों में स्वयं करें, अंग्रेज़ों के पास न आएँ, ये तो हमारी क़ौम व मुल्क के दुश्मन हैं। अंग्रेज़ अपनी हुकूमत भी हमारे ऊपर इन्ही नौकरों के माध्यम से चला रहे हैं। तो जब हमारे मिशनों की तैयारी पूरी हुई तो फिर हमने घेराव शुरू कर दिए।

घेराव

पेशावर, मर्दान, कोहाट और बनो में खुदाई ख़िदमतगारों के धरने कचहरियों पर आरम्भ हो गए। पहले-पहल तो किसी ने खुदाई ख़िदमतगारों को गिरफ्तार नहीं किया, बल्कि पुलिसवाले उनकी बेदर्दी से पिटाई करते। पुलिसवालों की मदद के लिए खानों ज़मींदारों के लठैत साथ होते और कुछ मोमदों को भी खुदाई ख़िदमतगारों की पिटाई और सरकार की सहायता के लिए बुलवाया गया था। मर्दान में भी यही हाल था, मगर वहाँ खानों के लठैत नहीं थे। स्वात के बादशाह मियाँ गुल साहब ने काफी स्वाती उन्हें पीटने के लिए भिजवाए थे। वे ज़ालिम उनकी ऐसी निर्ममता से पिटाई करते कि मैं बयान नहीं कर सकता। किसी का सिर-पैर नहीं देखते और प्रायः खुदाई ख़िदमतगारों को बैलों की तरह सीधा मारते। अधिकतर खुदाई ख़िदमतगार ज़ख्मी हुए, किसी का सिर फूटा, किसी का हाथ और किसी का पैर, कईयों को इतना अधिक पीटा गया कि उनकी मृत्यु तक हो गई। खुदाई ख़िदमतगारों ने पेशावर में डिप्टी कमिश्नर के दफ्तर पर जब घेराव किया तो डी.सी. मिर्जा सिकंदर लट्ठमारों सहित हाथ में लट्ठ लिए निकल आया और खुदाई ख़िदमतगारों पर बुरी तरह बरस पड़ा। हालाँकि

अंग्रेजों ने हमारे ऊपर लाठी नहीं उठाई थी और न अपने हाथों से हमें पीटा था, मगर इस मुसलमान भाई ने हमारे ऊपर लाठी उठा ली, फिर भी खुदाई खुदमतगारों ने इस मार-पिट्टाई में एडिशनल पुलिस और प्रबंधक पुलिस का दायरा तोड़ा और कचहरी में घुस गए और यदि हाकिम अंग्रेज होते तो उनसे कहते कि अंग्रेजों तुम सात हज़ार मील से आए हो, यह हमारा देश है, इसे हमारे लिए छोड़ दो और तुम अपने वतन वापस जाओ और यदि हाकिम देशी होते तो उनसे कहते कि क़ौम ने फैसला किया है कि आप अंग्रेजों की नौकरी छोड़ दें। यहाँ के घेराव में खुदाई ख़िदमतगार सैयद अकबर को सिकंदर मिर्ज़ा की गोली सीने पर लगी और वह शहीद हो गया। इन घेरावों का प्रमुख कमांडर गुजरों गढ़ी का शाकिरउल्लाह बाचा था, जिसने घेरावों को इतनी होशियारी और बहादुरी से संगठित किया था कि जो अंग्रेज इसका सामना करता, इस का कायल हो जाता था।

मर्दान के हमारे घेरावों, धरनों का कमांडर सालार मुनीर ख़ान था और फिर अब्दुल अजीज़ ख़ान हुआ। वह भी बहुत बहादुरी से इन घेरावों को चला रहा था। घेरावों का ज़ोर बड़े पैमाने पर पेशावर और मर्दान में था। मर्दान में हर कचहरी के आगे पुलिस और एडिशनल पुलिस हर तरफ हाथों में लाठी लिए खड़ी थे। खुदाई ख़िदमतगार आए, वे इंकलाब ज़िंदाबाद, अल्लाहो-अकबर, फख़्रे-अफग़ान ज़िंदाबाद के नारे लगा रहे थे और पुलिस का घेरा तोड़कर कचहरी में घुस गए। पुलिस और उनके लट्ठमार उन पर टूट पड़े, सभी को बुरी तरह पीटा फिर उन्हें लारी में डाला और कहीं दूर डाल आए। मैं इन दौरों की स्थितियों को जानने और विचार विमर्श के लिए दौरै करता, मगर सरकार मुझे मना नहीं कर रही थी। आखिर हुकूमत की नीति बदल गई और जो खुदाई ख़िदमतगार घेराव करते उन्हें पिटाई के अलावा पकड़ना भी शुरू कर दिया और ऐसी तरकीब अपनाई ताकि मैं कोई कार्य नहीं कर सकूँ। मैं कार्य के लिए मर्दान जा रहा था, मर्दान के बाहर पुलिस बैठी थी, उन्होंने पकड़ा और मुझसे बोले कि आपको मर्दान जाने की अनुमति नहीं है। मुझे गाड़ी में बैठाया और वापिस पेशावर शहर से बाहर छोड़ दिया। दूसरी बार कोहाट के लिए निकला, स्पीनी थाने के पास पुलिस बैठी थी, हमें गाड़ी से उतारा, मुझसे सारा दिन स्पीनी थाने में व्यतीत कराया, रात को लारी में पेशावर ले आए और वहीं छोड़ दिया। मुझे हुकूमत का यह रवैया उचित नहीं लगा। मैंने क़ौम को सावधान करने के लिए पेशावर चौक पर एक यादगार जलसा किया, इसमें मैंने लोगों के सामने तीन बातें रखीं, एक यह कि सरकार का मेरे साथ जो तरीका चल रहा है, वह मुझे मज़ाक़ लग रहा है, मेरे साथ ऐसा मज़ाक़ न करे या वे मुझे पकड़े या मुझे जाने दे, दूसरा यह कि अगर खुदा ने हमें जीत दी और हम आज़ाद हुए तो मेरी यह बात याद रखें, यह हमारा मुल्क समस्त क़ौम और पठानों का साझा है, चाहे ज़ार हो या गेहूँ, हम मिलकर खाएंगे,

ऐसा नहीं होगा कि एक व्यक्ति भूखा होगा, दूसरा पुलाव खाएगा। हमारा दूसरा कार्य यह होगा कि जो व्यक्ति भूखा होगा पहले उसका पेट भरेंगे फिर हम पेट भरने के अधिकारी होंगे, तीसरी बात यह है कि न एक व्यक्ति को प्रधान बनाएंगे और न बादशाह, न एक व्यक्ति को अधिकार देंगे और यदि एक व्यक्ति को हमने प्रधान बनाया, बादशाह बनाया, अधिकारयुक्त बनाया तो फिर आप लोगों के सिर ज़मीन पर होंगे और उसके संबंधी और दोस्त मज़े करेंगे। हमारे शासन के समय अधिकार शक्ति क़ौम और क़ौम की जिरगा के पास होगी। मैंने जलसे में इस बात की भी घोषणा की कि 26 अक्टूबर को खुदाई ख़िदमतगारों के एक दल के साथ मर्दान जाऊंगा।

26 तारीख को हम चारसदे के अड़डे पर एकत्र हुए और मैं पचास खुदाई ख़िदमतगारों के साथ पैदल मर्दान के लिए चल पड़ा। रास्ते में जगह-जगह पर लोग निकलकर आते जा रहे थे। हमने रात दरगीमंगा के खुदाई ख़िदमतगारों के साथ गुलाबाद में व्यतीत की। अगले दिन इस स्थान से मर्दान के लिए चल दिए। मीरौस गोंडई के पश्चिमी ओर नहर बहती है, वहाँ हमने दोपहर की नमाज़ पढ़ी। मैंने अपने दोस्तों की तलाशी ली और जिसके पास चाकू थे तो वे मैंने उनसे ले लिए। हम जब चल रहे थे, उसी समय स्वाबी के कुछ खुदाई ख़िदमतगार सालार मुनीर ख़ान के साथ हमारी टोली में शामिल हो गए। नमाज़ के बाद हमने प्रार्थना की और चल दिए। मैं दोस्तों के बीच में था और साथियों ने मुझे अपने चारों ओर से घेरा हुआ था, पड़ंगो का सरदार ख़ान अपनी कमर कसे हुए था और सबसे आगे चल रहा था। वह आवाज़ लगा रहा था कि पठान भाईयो! जान जाइए, पठानों की अंग्रेजों के साथ अपने हक़ की लड़ाई है, आप हमारे भाई हो, अंग्रेजों के लिए हमारे साथ मुकाबला करें, अपनी क़ौम और अपने वतन पर गर्व करें। हम जब मीरौस गाँव के पास पहुँचे तो हमारे साथ काफी लोग शामिल हो चुके थे। वली, मास्टर करीम, सालार मुनीर ख़ान और कुछ अन्य लोगों को हमने लौटा दिया ताकि सभी गिरफ्तार न हो जाएं। वली के पास कैमरा था, बोला मैं तस्वीर खींचूंगा, मगर मैंने मना कर दिया। मैंने उन लोगों से कहा कि मुल्क के लिए कार्य करें। हम जब मीरौस डेरे पर पहुँचे तो एक अंग्रेज खड़ा हुआ था। एक भारी लाठी उसके हाथ में थी, जो पुलिस वाले उसके साथ थे, उनके पास भी लाठियाँ थीं। वह अंग्रेज हमारे पास आया और पुलिस को हमारे चारों ओर कर दिया। सरदार ख़ान के भाषण ने इन पुलिस वालों पर भी थोड़ा बहुत असर किया था। उन्होंने हमें पीटा नहीं, मगर जिस समय अंग्रेज ने लाठी उठाई और उनको आदेश दिया कि मारो तो फिर हम पर बरस पड़े और काला अंधकार बना दिया। किसी का हाथ टूटा, किसी का पैर, मेरी भी पैरों की दो हड्डियाँ तोड़ दीं, हम एक-दूसरे पर उलझे पड़े थे, वे हमारे पैरों को पकड़कर सड़क पर खींच लाए, फिर हमें गाड़ी में

डाला और लाकर मर्दान पुलिस लाइन की एक कोठरी में डाल दिया। कोठरी का फर्श सीमेंट का था। उस कश्मकश में मेरे सारे कपड़े फट गए थे। ज़मीन पर पड़ा था मेरा शरीर शिथिल हुआ जा रहा था। सारा बदन दर्द कर रहा था। कुछ क्षणों बाद वही अंग्रेज़ अपने लठैतों सहित मेरी कोठरी में आ घुसा। मैं तकलीफ में था और वह मुझ पर रोब डाल रहा था। मैंने जब जवाब दिया तो गुस्सा हो गया और बोला कि इसे हथकड़ी डाल दो। मैं हैरान रह गया कि इंसान जब इंसान होता है तो कितनी हमदर्दी होती है और जब उसकी इंसानियत चली जाती है तो कितना बेरहम हो जाता है। उस जगह से लारी में डालकर नौखार छावनी ले आए। वहाँ एक मोटर खड़ी थी, दो अंग्रेज़ उसमें बैठे थे। मुझे मोटर में डाल दिया। खुशहाल जो काफी ज़ालिम पुलिस अफसर था, मेरे पास मोटर में बैठा था और अंग्रेज़ों को दिखाने के लिए मुझसे बहुत भद्दी बातें कह रहा था, मैं स्वयं बेसुध था, मैंने उससे इतना कहा कि पठान ऐसी बातें नहीं करते। आपका मतलब पूरा हो गया, अंग्रेज़ों ने आपकी बातें सुन लीं, तरक्की आपकी हो जाएगी, ऐसा ही हुआ। मुझे हरीपुर जेल ले जाया गया और कोठरी में बंद कर दिया। डॉक्टर थे, अस्पताल भी था, लेकिन वे मेरे लिए नहीं थे, कैदियों को तो इंसान मानते ही नहीं थे। मेरा सारा शरीर दर्द कर रहा था और रात बड़ी कठिनाई से गुज़री। अगले दिन डॉ. ने देखा, वह परेशान हो गया, कुछ मलहम-सी मेरे पैरो पर लगाई, जब सुपरिनटेंडेंट आया तो उसने मुझसे प्रश्न किया कि कैसे हो? पठान यदि काफी तकलीफ में हो कोई उससे प्रश्न करे तो उससे कहता है कि “ठीक हूँ”, मैंने भी उससे ऐसा ही कहा। सुपरिनटेंडेंट ने हुकूमत को खबर कर दी की “ठीक है।” उन्होंने अखबारों में घोषणा कर दी कि “वह ठीक है।” अस्पताल में एक हिंदू डा. था, वह प्रमुख डा. से बोला कि जिम्मेवारी आप पर है, बदनामी आपकी होगी, आपको चाहिए कि सरकार को सूचित करें। उसने हुकूमत को लिखा कि ये बात ग़लत है, वह ठीक नहीं है। “सरकार ने सिविल सर्जन को भेजा, उसने मेरा निरीक्षण किया, तब मुझे एज़ाबाद के सिविल अस्पताल में ले जाया गया। एकसरे हुआ, मालुम हुआ कि मेरी दो हड्डियाँ टूटी हुई हैं, सिविल सर्जन ने स्वयं मेरी हड्डियाँ जोड़ीं और उस पर प्लास्टर लगाया, लगाते ही मुझे थोड़ा आराम हुआ। कुछ दिनों बाद मैंने अखबार में देखा कि जेलखाने का सुपरिनटेंडेंट कह रहा है कि “उसका स्वास्थ्य ठीक है।” अगले दिन जब सुपरिनटेंडेंट आया, मैंने वह अखबार उसे दिखाया तो वह मुझसे बोला कि “आपने मुझसे कहा था कि “ठीक हूँ।” मैंने उसे कहा कि “यह तो पठानों की मर्यादा है, आपके पास तो आँखें थीं, आपने देखा नहीं कि मैं कैसा था ?”

हमने जिस समय अंग्रेज़ों के विरुद्ध सत्याग्रह शुरू किया, उस समय उन्होंने मुल्लाओं के माध्यम से अफ़ग़ानिस्तान हुकूमत की मदद से कार्य शुरू कर दिया। अजीब बात तो यह थी कि अंग्रेज़ों

ने मुझ पर कुफ़्र का एक फतवा तैयार करवाया और उस पर बाचा गुल तथा मांगी के मुल्ला के दस्तख़त कराए और दोनों मुल्लाओं ने इसकी पुष्टि की। अजीब बात तो यह थी कि धार्मिक मामलों में मांगी के मुल्ला और हाडी के मुल्ला के अनुयायी कभी एकमत नहीं रहे थे और दोनों एक दूसरे के विरोधी थे। जो एक-दूसरे पर कुफ़्र के फतवे लगाते थे लेकिन मेरे फतवे पर दोनों समूह सहमत थे, क्योंकि यह कुफ़्र का फतवा अंग्रेज़ लगवा रहे थे और दूसरी बात उन्होंने यह कही कि अफ़ग़ानिस्तान में भी पठान हैं, सुबा-रहद के लोगों को भी चाहिए कि इस क्षेत्र को अफ़ग़ानिस्तान के साथ मिला कर दें। इनके इशतहार सारे देश में बंटवाए गए। वे जलसे करते और उनमें यह भाषण करते कि यह इलाका अफ़ग़ानिस्तान के साथ जाएगा जबकि अंग्रेज़ों ने उनसे कुछ नहीं कहा। तीसरा कार्य उन्होंने यह किया कि हाजी मोहम्मद अमीन जो पेशावर क्षेत्र से जाकर हड्डों में पीर बन गया था। अंग्रेज़ों ने अफ़ग़ानिस्तान की हुकूमत से विचार कर उसे बाचा गुल के माध्यम से पेशावर में बुलवाया। उसने यहाँ इन बातों की कोशिश की कि पठानों का राजनैतिक ध्यान अंग्रेज़ों से दूसरी तरफ मोड़ा जाए जिस समय खुदाई ख़िदमतगारों का सारा ध्यान मुल्क की आज़ादी और अंग्रेज़ों के विरुद्ध था, उस दौरान हाजी मोहम्मद अमीन ख़ान आया, उसके साथ मुल्ला मिल गए, तहकाल के ज़मींदार अब्दुल ग़फ़ूर ने भी उनके साथ कमर कसी और लोगों का ध्यान अंग्रेज़ों की ओर से हटाया। यह वही मोहम्मद अमीन था, जिसने मस्जिद-नबवी में मेरे साथ वादा किया था कि मैं आपके साथ मिलकर खुदा के जीवों की सेवा करूंगा। जब वे धरने पर गए तो ड्रम निकाले और लोगों से कहा कि देखिए वहा खुदाई ख़िदमतगार अंग्रेज़ों की कचहरियों पर धरना लगा चुके हैं, वे लौट आए हैं, हमारा “यहाँ पर” धरना चल रहा है, लेकिन उन्हे शर्मिदा होकर लौटना पड़ा। दो-तीन दिन बाद मिर्ज़ा सिकंदर ने वह ड्रम उठा लिया ताकि उसका नाम हो जाए। बाचा गुल और दूसरों ने बड़ी कोशिशें सरहद और अपने मुल्क में कीं, मगर वे कामयाब नहीं हुए क्योंकि लोगों की सहानुभूति हमारे साथ थी। सुझाव यह पास हुआ था कि इस समय हमें अंग्रेज़ों के विरुद्ध सारे सूबे में जलसे करने चाहिए और उनमें घोषणा करें कि हम आज़ाद हैं और उसके बाद मिशन बनेगा जो सभी कचहरियों, तहसीलों, जिलों, थानों में इस देश के सरकारी नौकरों के पास जाएगा और उनसे यह अपील करेगा कि आप अंग्रेज़ों की नौकरी छोड़ दें और अपनी क़ौम के साथ जनता और मुल्क की सेवा के लिए कमर कसें, देश की सेवा के लिए जान न्यौछावर करें। मैं अफ़सोस के साथ यह लिखता हूँ कि इन मिशनों के काफी प्रयत्नों के बावजूद केवल एक व्यक्ति ने नौकरी छोड़ी वह याह्या जान थे और पेशावर के इस्लामिया हाई स्कूल के हेडमास्टर थे। सरकारी नौकरों में काफी खुदाई ख़िदमतगार थे जो खुदाई ख़िदमतगारों के मंत्रालय के दौरान नौकरी में लगे थे। एक

व्यक्ति ने भी खुदाई खिदमतगारों के उन बेटों में से नौकरी नहीं छोड़ी और सबसे अजीब बात तो तब यह थी कि वे लोग जिन्हें हमने भर्ती किए थे, वे खुदाई खिदमतगारों पर बहुत अधिक ज़ोर-जुल्म करते और कभी-कभी उन पर गोलियाँ तक भी चला देते। इन बातों की वजह यह थी कि वे तो अंग्रेजों की नौकरी चाहते थे और खुदाई खिदमतगारों के हाथों नियुक्त हुए थे। वे स्वयं को सच्चा और निष्ठावान दिखाने के लिए खुदाई खिदमतगारों पर अधिक जुल्म करते ताकि उन पर अंग्रेजों को शंका न रहे।

1942 ई. में सिविल सर्जन मुझे हरीपुर जेल से एब्ताबाद अस्पताल ले गया। वहाँ मेरा इलाज शुरू हुआ। हालत ठीक होने के बाद वापिस हरीपुर जेल ले आए। उस समय खुदाई खिदमतगारों का स्थानांतरण हरीपुर में शुरू हो गया था। वे रास्तों में नारे लगाते, फिर जेल में घुसते समय फिर बैरको में, अहातों में भी नारे लगाते। हमारा सिद्धांत तो यह था कि जेलखाने में जेल के कानून का विरोध न करें। सुपरिन्टेंडेंट ने जरनल को लिखा कि उन्होंने नारों से जेलखाना सिर पर उठा लिया है। जरनल आया, बहुत अच्छा व्यक्ति था, फौजी था, मेरे साथ बातें कीं, मुझसे बोला कि ठीक है वे 'इंकलाब जिंदाबाद' और 'फख्रे-अफगान' के नारे लगाएं, मगर वे यह न बोलें कि 'ब्रिटेन मुर्दाबाद'। मैं उनके पास गया, सभी को मैंने बैठाया कि आपको बाहर जो कुछ करना है वह करें, मगर जेलखाने में ये नारे लगाना अच्छा नहीं है। कुछ गर्म मिज़ाज खुदाई खिदमतगार थे, बोले कि क्यों नहीं लगाएंगे? मैंने कहा कि जेलवालों ने आप लोगों को कितनी सुविधाएँ दी हुई हैं, आपको चाय की आज़ादी है, दूध देते हैं, अपनी सब्ज़ी पका सकते हैं, तलाशी हमारी नहीं लेते, यह सब कुछ इस वजह से है कि मैं यहाँ मौजूद हूँ, यदि आप नहीं मानेंगे और नारे लगाएंगे तो यहाँ से मुझे भेज देंगे और फिर आपसे ये सारी सुविधाएँ छीन लेंगे, आप पर सख्ती करेंगे, फिर भी आप लोग यदि यह प्रदर्शन जारी रखना चाहते हैं तो मेरी यह बात सुनिए जो छोड़ना नहीं चाहते वे एक साथ सभी नारे न लगाएं, एक बैरक में आप दस व्यक्ति नारे लगाएं। यदि वे कोठरियों में बंद कर दिए जाएं तो फिर आप अन्य दस व्यक्ति नारे लगाएं। आपका यह आंदोलन भी मृत नहीं होगा मेरे कहने पर यह समझौता जेलवालों के साथ कर लेते हैं तो इसमें इज़्जत भी बनी रहेगी। यदि मुझको आपके पास से भेज दिया गया और आप लोगों को तंग किया गया और तब फिर आप समझौते के लिए प्रार्थना करेंगे तो उसमें बेइज़्जती होगी। मैं उन लोगों से यह बात कह कर वापस आ गया। उन्होंने नारे बंद नहीं किए, दो दिन बाद जमादार मेरे पास आया कि सुप्रिन्टेंडेंट ने आपको दफ्तर में बुलाया है। मैं उसके साथ गया, जब बरामदे में पहुँचा तो पुलिस तैयार खड़ी थी, गाड़ी बाहर खड़ी थी, मुझे स्थानान्तरित कर एब्ताबाद जेल भेज दिया गया और वहाँ एक तंग कोठरी में बंद कर दिया। वह कोठरी बिल्कुल एकांत और सारे जेल से अलग थी, मुझसे ज़रा-सी बात करने के लिए कोई नहीं था।

जिस समय मैं हरीपुर जेल से स्थानान्तरित हो गया तो जेलवालों ने राजनैतिक कैदियों पर काली रात बना दी। उनकी चाय बंद कर दी। जो नारे लगाता उसे कोठरी में डाल देते। उन्होंने कुछ दिन तो नारे-वारे लगाए, मगर आखिर नारे बंद कर दिए। उन्हें अपने कार्य पर पश्चाताप हुआ। उनके प्रमुखों ने जेलवालों से कहा कि हम आपसे समझौता करते हैं। जेलवालों ने उनसे कहा कि बड़ा अच्छा है नारे बंद कर दीजिए तो उनके बीच में समझौता हुआ। यदि उन्होंने मेरी बात मानी होती तो मुझे भी उनके पास से नहीं भेजते और न ही उन्हें इतनी तकलीफ पहुँचती और न नीची आंखों से समझौते करने के लिए मजबूर हुए होते। मुझे एब्ताबाद जेल में एक बूढ़ा मशक्कती दिया गया था, वह मेरे लिए रोटी पकाता। तीन महीने की सज़ा थी। जब उसके मुलाकाती आए और वह मिल कर जब वापिस आया, तो मैंने उससे प्रश्न किया कि उसके घर और बाल-बच्चों का क्या हाल है? तो वह मुझसे बोला कि मैं मिलने के लिए गया तो औरत और बच्चे जंगले के उस ओर खड़े रो रहे थे और मैं जंगले के इस ओर रोने लगा। कुछ बात नहीं हुई। वह हज़ारे से था। बहुत अच्छा व्यक्ति था। एक दिन मैंने उससे पूछा कि मेरी इस कोठरी के नीचे जो बैरके हैं, जब आधी रात गुज़रती है तो इसके कैदी शोर करते हैं, ये करते क्या हैं? मुझे नींद से उठा देते हैं, आप उनसे कहें कि यदि कार्य करना है तो धीरे-धीरे करें और मुझे नींद से न उठाएं। तो उसने बताया कि वे शोर इसलिए होता है कि यह ऐब्ताबाद है, यहाँ बर्फ पड़ती है, उन्हे ठंड लगती है, उनको दो पुराने कंबल दिए गए हैं तो इस वजह से वे शोर करते हैं। उमर बेग नामक इस जेलखाने का दारोगा था, मुसलमान था और कोढ़ी नाम से प्रसिद्ध था। वह अगले दिन जब मेरे पास आया तो मैंने उससे कहा कि कैदियों के पास कंबल नहीं है। उन्हें ठंड लगती है। मुझे नींद से उठा देते हैं, कृपा करके उन्हें कंबल दे दें। वह मुझसे बोला कि कंबल नहीं है। लोग काफी नमाज़, प्रार्थनाएँ भी करते कि उसका तबादला हो जाए तो खुदा की रहमत हुई और उसका तबादला हो गया। उसके स्थान पर एक हिंदू दारोगा आ गया। उसके आते ही जब कैदियों ने उससे शिकायत की तो दो-दो नए कंबल सभी को दे दिए। जब मुझे पता लगा तो मैंने उससे पूछा कि "ये कंबल आपने मंगवाए हैं?" तो वह बोला "नहीं ये तो गोदाम में पड़े थे। इस जगह का डिप्टी कमिश्नर सिक्ख था और बहुत अच्छा व्यक्ति था। वह जब जेलखाने में आया तो उसने मुझसे यह बात कही कि जार्ज कंगम यह बात कह रहे हैं कि वे डा. खान साहब के अलावा सरहद का मंत्रालय अन्य किसी को नहीं देंगे", मगर कुछ समय बाद मुस्लिम लीग को दे दिया, औरंगज़ेब खान वज़ीरे-आला बने। एक दिन यह डिप्टी कमिश्नर आया, काफी नाराज़ था और मुझसे बोला कि गवर्नर तो कहते थे कि डा. खान साहब के अलावा दूसरे किसी को वज़ीर नहीं बनाएंगे। यह एक किस्म से मेरे साथ हमदर्दी

व्यक्त कर रहा था। मैंने इससे कहा कि मैं तो खुश हूँ कि गवर्नर ने मुस्लिम लीग को हुकूमत दे दी और डा. खान साहब के स्थान पर औरंगज़ेब को नियुक्त कर दिया। वह हैरान हो गया और पूछा कि ऐसा किसलिए? तो मैं उससे बोला कि मैं इसलिए खुश हूँ कि इस कौम ने तो हमारी हुकूमत देख ली है तो यह अच्छा है कि मुस्लिम लीग की हुकूमत भी देखें और अंतर समझें। दूसरा यह कि हमारी हुकूमत के पास अधिकार भी काफी कम थे और हमारी इस कौम ने तो हुकूमत देखी नहीं थी और न वे हुकूमत से अवगत हैं, तो कोई कार्य जिसे हम नहीं कर पाते या हमारे अधिकार से बाहर होता और कौम कहती इसे हमारे लिए करें, हम उनसे बहुत कहते कि यह हम नहीं कर सकते और हमारे अधिकार में नहीं है, मगर उनको तसल्ली नहीं होती और हमसे नाराज़ हो जाते, फिर हमारा विरोध शुरू कर देते। दूसरी बात यह है कि हमें दो आने मिलते और वे हमसे रुपया चाहते तो रुपया हम कहाँ से लाते? वे हमारी हुकूमत भी देख चुके हैं और अब मुस्लिम लीग की हुकूमत देखेंगे तो वास्तविकता जान जाएंगे और यही हुआ। अगर हमने यह हुकूमत नहीं छोड़ी होती तो हमारे लिए भविष्य का चुनाव जीतना कठिन था, वे कामयाब हो सकते थे। लोगों ने देखा कि हम तो रुपयों में से दो आने तो देते थे और जो कार्य हमारे अधिकार में था, उसे हम उनके लिए करते थे और मुस्लिम लीग तो अपने पास भी नहीं फटकने देती और न उनके लिए कुछ करती। एक दिन कर्नल स्मिथ जो पेशावर जेल के सुपरिन्टेंडेंट थे, एब्ताबाद दौरे पर आए तो मेरा स्थान देखा। जब वे बाहर निकले तो सुपरिन्टेंडेंट से कहा कि आपने बाचा खान को कबूतरों की कोठरी में बंद किया है? उसने स्मिथ को बहुत विनम्रता और डरते-डरते जवाब दिया कि सरहद की हुकूमत का यह आदेश है, इसमें मैं क्या कर सकता हूँ? कर्नल स्मिथ ने उसी समय वहीं से गवर्नर को टेलीफोन किया, उनसे कहा कि सर जार्ज कौन बहादुर दुश्मन के साथ ऐसा सलूक करता है जैसा आपने बाचा खान के साथ किया है! उसे एक छोटी-सी कोठरी में अकेला डाला हुआ है? गवर्नर अपने कार्य पर शर्मिंदा हुआ और अपना आदेश वापिस ले लिया और आदेश दिया कि मुझे अच्छी जगह और साथी दे दिए जाएं। जब स्मिथ साहब दुबारा आए और मुझसे साथी के बारे में पूछा कि किसे चाहते हैं तो मैंने उनसे कहा कि “आपकी जो पसंद हो उसे बुलवा दें”, उन्होंने पूछा कि “वे आपके साथ रहेंगे अथवा मेरे साथ”, मैंने कहा कि मेरे साथ “वह बोले कि फिर तो आप पसंद करें। आपको जो पसंद हो वह मुझे बतलाएं।” तो मैंने उनको वली और शेर दिल खान याद दिलाए। उन्हें मेरे पास भेज दिया गया। जब वे आए तो मुझे उनसे ज्ञात हुआ कि सालार अंज़र गुल डेरा इस्माइल खान जेल में हैं और काफी अस्वस्थ हैं, तो मैंने सुपरिन्टेंडेंट से कहा कि हमें पकाने के लिए हमारा व्यक्ति दे दें, वह बोला कि किसे चाहते हैं? मैंने कहा अंज़र गुल को चाहता हूँ।

उन्होंने उसे बुलवा दिया। जब अंज़रगुल जरनल आए तो इतने अस्वस्थ थे कि चला भी नहीं जा रहा था। हमारी बैरक की सीढ़ियों से भी न उतर पाए, मगर खुदा की रहमत थी, डाक्टरों ने इलाज किया और हमने उनके लिए डाक्टर से अच्छा भोजन लगवाया तो दिन-प्रतिदिन ठीक होने लगे। मेरी उस कोठरी में मुश्किल से दो चारपाई आती थी और इसके अंदर लेटने के लिए भी जगह नहीं थी तो सालार साहब मेरी चारपाई के नीचे लेटते और शेर दिल खान वली की चारपाई के नीचे। कुछ दिन बाद आदेश आ गया और मेरे निकट अस्पताल का जो कमरा था, वह उनको दे दिया गया। मैं अपनी जगह अकेला रह गया। वे तीनों उस कमरे में चले गए।

हम जेल में थे तभी खबर लगी कि बंगाल में अकाल पड़ा है और काफी लोग भुखमरी से मर रहे हैं। सरकार हमें जो राशन देती थी, उसमें से आधा हम खाते और आधा उन पीड़ाग्रस्त लोगों के लिए इकट्ठा करते। जब काफी राशन जमा हो गया तो हमने हुकूमत से कहा कि इसे बंगाल भिजवा दें, मगर न हुकूमत ने उसे बंगाल भेजा और न हमें वापिस दिया। उन दिनों वली की आँख दर्द करने लगी। उसकी एक आँख थी और दूसरी आँख चेचक मे खराब हो गई थी। हम काफी चिंतित थे। सुपरिन्टेंडेंट ने आँखों के लिए फौज का निपुण डाक्टर बुलवाया, लेकिन कोई फायदा नहीं हुआ। हमने इस सुपरिन्टेंडेंट से कहा कि आप सरकार को इसके हाल से अवगत कराएं। यह चाहता है कि मुंबई जाकर अपने डाक्टर से इलाज करवाएं। सर जार्ज ने बगैर किसी शर्त के उसे रिहा कर दिया और इलाज की अनुमति दे दी। जब वली जा रहा था तो मैंने उससे कहा कि वली तुम्हें इलाज के लिए छोड़ा गया है। यदि तुम्हारा इलाज हो जाए तो फिर भी हुकूमत के विरुद्ध कोई कार्य तब तक न करना कि जब तक कैद की यह अवधि तुम्हारी पूरी नहीं हो जाती।

हरीपुर जेल से हमारे काफी दोस्त कैद से रिहा हो गए जो बाकी रहे उनके पास एब्ताबाद से स्थानांतरित कर हमारे पास भेज दिया गया। हरीपुर में हमारे जो दोस्त थे उनसे जेलवालों ने कहा कि सभी व्यक्ति दफ्तर में न आएँ। आप अपना एक व्यक्ति नियुक्त कीजिए और वही हमारे दफ्तर में कार्य के लिए आएगा तो वे इकट्ठा हुए और उन्होंने एक व्यक्ति को सहमति से प्रमुख बना दिया, वही उनके कार्यों के लिए दफ्तर में जाता और उनके कार्य करवाता। यह तो ज़रूरी बात थी कि वह उनका प्रतिनिधि था तो जेलवाले उसकी इज़्ज़त करते तो उसकी इज़्ज़त तो वास्तव में उनकी इज़्ज़त थी। जब वह उनके कार्य के लिए दारोगा के पास जाता तो वह उसे अपने साथ कुर्सी पर बैठाता। यदि डा0 के पास उनके कार्य के लिए जाता तो वह भी उसे अपने साथ कुर्सी पर बैठाता और इसी भांति सुपरिन्टेंडेंट भी उसे कुर्सी देता, मगर दोस्तों ने जब यह देखा तो उसे पीठ पीछे गाली देते। एक-दूसरे से कहते कि यह तो सुपरिन्टेंडेंट और डॉ. साहब के साथ कुर्सी पर बैठा

रहता है, दूसरा कहता कि यह तेल और साबुन हमारे नाम से लाता है और अपने पास रख लेता है। यह हमारे खुदाई खिदमतगार प्रमुखों का हाल था। मैं जब इस जेल में गया तो वहाँ अधिकतर कैदी सी क्लास से थे और विभिन्न बैरकों में थे। एक बैरक के व्यक्ति को दूसरी बैरक में नहीं जाने दिया जाता। मैंने जेल वालों से कहा कि रविवार के दिन हमारे इन राजनैतिक कैदियों को अनुमति दी जाए, ताकि एक जगह मिल लें। उन्होंने अनुमति दे दी। हम प्रत्येक रविवार को एक जगह मिलते, अपनी पार्टी और कौमी विषयों पर बहस करते तो हमें अनुभव मिलता। हमारा एक जेरनल था, काफी अच्छा व्यक्ति था। उसे अपना प्रमुख नियुक्त किया हुआ था, लेकिन हमारे साथी सारे दिन उसके पीछे बातें करते। एक दिन मैंने उसे बुलवाया और उनसे कहा कि जेरनल साहब इनकी अध्यक्षता से इस्तीफा दे दो। वह गया और उन्हे इस्तीफा दे दिया। एतवार के दिन जब हम एक जगह मिले तो वे मुझसे बोले कि बाचा खान आप हमारे अध्यक्ष बन जाएं और यदि आप नहीं बनते हैं तो हममें से एक अध्यक्ष चुन दे। मैंने कोई जवाब नहीं दिया और बात दूसरी तरफ मोड़ दी। अगले एतवार को जब फिर इकट्ठे हुए तो वे फिर मेरे पीछे पड़ गए कि हमारे लिए एक अध्यक्ष नियुक्त करें तो मैं उठा और उनमें से प्रत्येक व्यक्ति को नीचे से ऊपर तक देखा। मैंने जब सभी को गौर से देख लिया तो उनसे कहा कि आपमें तो मुझे ऐसा निम्न, ज़लील और बेगैरत व्यक्ति नहीं दिखा, जिसे आपका अध्यक्ष बना दूँ। आप अजीब प्राणी हैं और स्वयं को खुदाई खिदमतगार भी कहते हैं, सज़ा भी काटते हैं, मगर जिस व्यक्ति को अपना अध्यक्ष नियुक्त कर दिया तो फिर उसे गाली देते हैं, उसे नीचा दिखाते हैं, बहुत अफसोस की बात है, वे चुप हो गए और फिर मुझे अध्यक्ष की बात नहीं कही। हम जब हरीपुर जेलखाने में थे तो एक कैदी मेरे पास आया कि “बाचा खान! आपके अपने खुदाई खिदमतगार मुझे जेलखाने में तीन महीने के लिए लाया था और मुझसे कहा कि बस एकआध महीने में रिहाई है, मैंने छः महीने गुज़ार दिए, अब मैं उससे कहता हूँ कि मुझे छुड़वा दिजिए, ताकि मैं चला जाऊँ और वे मुझे नहीं छुड़वा रहे हैं।” मैंने उससे कहा “मैं आपको छुड़वाऊंगा, सीधे दफ्तर जाओ। मैंने सदैव खुदाई खिदमतगारों को ऐसे कार्य से मना किया है कि बाध्यपूर्वक और छल से किसी व्यक्ति को जेल में मत लाओ। पार्टी को इससे फायदे की जगह नुकसान पहुँचता है।

लोगों को बाध्य कर जेलखाने चलने के लिए मजबूर न करें और न उन्हे खुशामद और धोखे से जेलखाने में ले जाएं। आप तो यह सोचते हैं कि अधिक लोग जेल में जाएंगे तो सरकार पर रोब कायम होगा, लेकिन कमज़ोर लोगों को ले जाने से आप अपमानित होते हैं और साथ ही आपकी अपनी पार्टी बदनाम होती है। मानता हूँ कि काफी लोगों के ले जाने से सरकार पर रोब पड़ता है, लेकिन

तब जब वे मजबूत और सिद्धांती हों। मैंने जेलखाने में मुर्गे पाले हुए थे, उन्हे मैं अपने हाथों से दाना खिलाता। वे मेरे साथ ऐसे हिल-मिल गए थे कि कोई मेरी गोद में, कोई मेरे कंधों पर सवार रहता। एक दिन मैं आटे की गोलियाँ बनाकर उनको खिला रहा था। कोई मेरे हाथ पर, कोई मेरी गर्दन पर और कोई मेरे सिर पर बैठा था। कर्नल स्मिथ दौरे पर आये हुए थे। जब मेरे पास आए तो जब यह तमाशा देखा तो जेल के सभी अफसर वापिस कर दिए और मेरी कोठरी के पीछे-पीछे से आये, मैं उससे बेखबर था और वे मेरे पीछे खड़े थे, मैंने तमाशा कर लिया तो फिर मुझसे बोले “गुड मारनिंग ?” मैंने जब देखा स्मिथ साहब हैं, वे मुझसे बोले कि “यह क्या कर रहे हैं?” मैंने कहा कि “मैं यह जो कुछ कर रहा हूँ इसमें आप लोगों के लिए सीख है, देखिए इन्हें मालूम है कि हम इन्हें हलाल करते हैं और खाते हैं, परंतु मैं इनसे मोहब्बत कर रहा हूँ तो वे मेरी गोद में और कोई मेरे कंधों पर और कोई मेरे सिर पर बैठा हुआ है। आपको इनसे सीख लेने की आवश्यकता है। ये देख रहे हैं, कि यह हैवान हैं, मगर जब मैं इनके साथ प्रेम कर रहा हूँ तो कोई भी मेरी गोद से नहीं उतर रहा है और हम तो इंसान की औलाद हैं। यदि उनके साथ प्यार किया जाए तो क्या वे दोस्त नहीं हो सकते।

कर्नल स्मिथ एक बहादुर व्यक्ति थे और बहादुरों को पसंद करते थे तो उन्होंने स्वयं स्वीकार किया कि “मैं आपसे लड़ाई हार गया।” फिर बाद में इन्हें खुदाई खिदमतगारों के प्रति काफी प्यार उत्पन्न हुआ और उनसे अच्छा व्यवहार रहा था और मेरा तो इन पर इतना प्रभाव हुआ था और मेरी इतनी कद्र करते थे कि 1947 ई. में जब शकों के डेरे में जलसा था देखा कि कर्नल स्मिथ अपने बेटे का हाथ पकड़े स्टेज पर आए, हालचाल पूछने के बाद मुझसे बोले कि मेरे इस बेटे के सिर पर हाथ रख दीजिए। मैंने उन्हे अपने निकट बुलाया और उनसे कहा कि “आप मेरे पास जलसे में किसलिए आए हैं, आप तो सरकारी नौकर हैं और यदि पाकिस्तान बन गया तो आप नौकरी से हटा दिए जाएंगे”, वे हँसे और बोले कि “जिस दिन पाकिस्तान बनेगा मैं यहाँ नहीं होऊंगा।” यह सच्चाई थी कि जिस दिन पाकिस्तान बना तो इस ओर झंडे लहरा रहे थे और तोपें चल रही थीं और उस तरफ कर्नल स्मिथ अपनी बीबी के साथ फ्रंटियर मेल से इंग्लिस्तान जा रहे थे।

1945 ई. में हमारे कुछ सदस्यों के मन में यह विचार उत्पन्न हुआ कि हमारे सूबे में मंत्रालय ठीक रहेगा। यदि हम मंत्रालय ले लेते हैं तो अन्य कार्यों के अलावा राजनैतिक कैदी जो तीन सालों से अब तक जेलखानों में पड़े थे वे भी रिहा हो जाते। हमारे एसेम्बली सदस्यों के बीच कुछ लोग हुकूमत और मंत्रालय के बहुत शौकिन थे, वे न सत्याग्रह करने को तैयार थे, न घेराव करने देते, वे अपने कार्य करते। खुदाई खिदमतगारों के धरनों में जो मरते अथवा कैद और घायल होते तो वे लोग उनको भी अच्छी

नज़र से नहीं देखते, क्योंकि वे स्वयं भी कार्य करने के लिए तैयार नहीं थे और न अन्य को करने देते, यहाँ तक कि मेरे बेटे लाली को भी धरने के लिए नहीं जाने दिया। उन्होंने जब एकातोत के कैम्प में मंत्रालय बनाने की कोशिश आरम्भ की तो सकी साहब और कैम्प कमांडर सालार शेर अली खान ने उनका विरोध शुरू कर दिया और डॉ. साहब को भी अपना हमविचार बना लिया। उन्होंने प्रांत एसेम्बली के अपने सभी सदस्य एकातोत कैम्प के सम्मेलन में बुलवाए हुए थे, ताकि सभी को अपने साथ मंत्रालय बनाने के लिए एकमत करें, मगर जब वे आए तो सकी साहब समझ गए थे तो यह बैठक भी असफल हो गई। आखिर जब सकी साहब तैरात चले गए तो उनके लिए मैदान खाली हो गया। डॉ. साहब को उन्होंने राजी कर लिया और गांधी जी के पास मिशन भेजा और उनसे कहा कि सूब-सरहद के हालात अन्य हिंदुस्तान से भिन्न हैं, हमारी पार्टी को मंत्रालय से फायदा है और राजनैतिक कैदी भी रिहा हो जाएंगे। गांधी जी बोले कि इस विषय पर बाचा खान से बात कीजिए तो फिर मेरे पास हरीपुर जेल में मिशन भेजा और यह सारा

क़िस्सा मुझे बतलाया। मैंने उनसे कहा कि मैं तब तक मंत्रालय बनाने के पक्ष में नहीं हूँ जब तक हमारे पास पूरे अधिकार नहीं आते हैं। पूरे हक़ और अधिकारों के बग़ैर मंत्रालय बनाना क़ौम और पार्टी को फ़ायदे की जगह पर हानि पहुँचाएगा, बाकी रहा राजनैतिक कैदियों की रिहाई की बात तो हमारी चिंता मत किजिए, हम जेल में परेशान नहीं हैं। वे चले गए और कुछ दिन बाद ख़बर आई कि उन्होंने मंत्रालय बना लिया। कुछ राजनैतिक कैदी रिहा हो गए और कुछ जेल में रह गए। जब मेरी रिहाई आई तो मैंने कहा कि जब तक सारे राजनैतिक कैदी रिहा नहीं होते तब तक तो मैं नहीं निकलूंगा। वे फिर मेरे पास आए और मुझ से कहा कि उन पर सरकार ने सख़्त धाराएँ लगाई हुई हैं, हम कोशिशें कर रहे हैं और वे कुछ दिनों में रिहा हो जाएंगे। मगर आप अब निकल आइए, तो मैं जेल से निकला। मैं अस्वस्थ था। मैं जेलख़ाने में जब अकेला होता हूँ तो अस्वस्थ पड़ जाता हूँ। उन दिनों गांधी जी मुंबई में थे।



कर्ण (नर्सरी स्कूल, जेएनयू)

पर्यावरण विज्ञान

संयोजन : सुदेश यादव



आज के व्यावसायिक व वैश्वीकरण युग में हम पर्यावरण के महत्त्व को व इसकी प्राकृतिक स्थिति को बनाए रखने के लिए किए जाने वाले कार्यों से दूरी बढ़ाते जा रहे हैं। हमारे अस्तित्व व दूसरी life forms (जीवन) को बचाए रखने के लिए पर्यावरण का संतुलित होना, इसको प्रदूषण से बचाए रखना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। जेएनयू में पर्यावरण विज्ञान संस्थान सन् 1974 से इस दिशा में पठन-पाठन व शोध का कार्य करते हुए देश सेवा में रत है। यहां पर पर्यावरण विज्ञान में स्नातकोत्तर (M.Sc.) व विद्या वाचस्पति (Ph.D.) की डिग्री के लिए विज्ञान के मूल विषयों (भौतिक, गणित, रसायनशास्त्र, भू-विज्ञान व जीव विज्ञान) को समाहित करते हुए पढ़ाई करवाई जाती है। यहां के विद्यार्थी देश के महत्त्वपूर्ण व प्रतिष्ठित संस्थानों में काम कर रहे हैं। यह स्कूल देश के सबसे पुराने संस्थानों में से एक है और आज भी सबसे उच्च स्थिति बनाए हुए हैं। यहाँ प्रस्तुत है पर्यावरण विज्ञान संस्थान के शिक्षकों से पाठ्यक्रम को लेकर किए गये परिसंवाद के मुख्य अंश। (सु.या.) -

प्रो. सतीश चन्द्र गरकोटी

आप वर्ष 2008 में जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय (जेएनयू) में कार्यग्रहण करने से पहले असम विश्वविद्यालय, सिल्वर के परिस्थितिविज्ञान एवं पर्यावरण विज्ञान विभाग में कार्यरत रहे हैं तथा आपके पास 25 वर्षों से अधिक का अनुभव है। आप इस स्कूल तथा आपके पिछले विभाग एवं भारत के अन्य स्कूलों में पर्यावरण शिक्षा एवं शोध के पाठ्यक्रम को किस प्रकार देखते हैं?

जेएनयू की अवस्थिति विशिष्ट लाभों पर विचार करते हुए यहाँ का पाठ्यक्रम बड़ा ही विविध है तथा इस विविधता से छात्रों के साथ-साथ शिक्षक भी लाभ उठाते हैं। तथापि, प्राकृतिक वातावरण के सन्निकट स्थित होने पर असम विश्वविद्यालय के परिस्थितिविज्ञान एवं पर्यावरण विज्ञान विभाग के छात्रों एवं शिक्षकों को प्रकृति की प्रयोगशाला से सीधे बहुत कुछ सीखने को मिला है। इसके अलावा वहां की स्थानीय समुदायों की परंपरागत ज्ञान से भरपूर परिपाटियों से भी बहुत कुछ सीखने को मिलता है। अतः प्रत्येक व्यक्ति को इसका बहुत लाभ मिला है, परंतु हर जगह मौजूदा अवधारणा एवं क्षमता को सशक्त बनाने तथा पर्यावरण विज्ञान के क्षेत्र में नई बुलंदियों को छूने के लिए अपार संभावनाएं रहती हैं।

पर्यावरण विज्ञान में बायोलॉजिकल विज्ञान की बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका रहती है परंतु क्या हम जान सकते हैं कि पर्यावरण विज्ञान के पाठ्यक्रम में परिस्थितिविज्ञान (इकोलॉजी) एवं इसकी विभिन्न शाखाओं की क्या भूमिका होती है?

पिछले चार दशकों से परिस्थितिविज्ञान जिसका मूल आधार बायोलॉजिकल विज्ञानों में निहित है, महत्त्वपूर्ण रूप से एक एकीकृत विधा (इंटीग्रेटेड डिसिप्लिन) बन गया है ताकि प्राकृतिक विज्ञानों को सामाजिक विज्ञानों के साथ जोड़ा जा सके क्योंकि सामाजिक प्रक्रियाएं संसार की वास्तविक स्थिति में आधारभूत संरचना एवं ईकोसिस्टम के कामकाज को अत्यधिक प्रभावित

करती हैं। इसी लक्ष्य की खोज में परिस्थितिविज्ञान आधुनिक समय का अत्यंत चुनौतीपूर्ण एवं आकर्षक विषय बन गया है जो न केवल एक ओर तो भौतिकशास्त्र, रसायनशास्त्र, गणितविज्ञान एवं भू-विज्ञान तथा दूसरी ओर सामाजिक विज्ञान, अर्थशास्त्र एवं राजनीति विज्ञान जैसे कठिन विषयों की अवधारणाओं को समझने की मांग करता है। अतः परिस्थितिविज्ञान को समाज एवं पर्यावरण संबंधी मुद्दों तथा विभिन्न आधुनिक समस्याओं का स्थायी समाधान ढूँढने की उल्लेखनीय संभाव्य विधा के रूप में पहचान मिली है। इसी पृष्ठभूमि में परिस्थितिविज्ञान की एकीकृत विधा के रूप में महत्त्वपूर्ण एवं सर्वव्यापी भूमिका का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। अतः व्यावहारिक कारणों की वजह से ही सही, व्यक्तिगत परिस्थितिविज्ञानी को विधा की सीमाओं एवं व्यक्तिगत भावना को पार करने के लिए अपनी सीमा एवं परिस्थितिविज्ञान को समझना होगा। आशा है मेरा उत्तर स्पष्ट है।

क्या आपको परिस्थितिविज्ञान के पाठ्यक्रम में संतुलित प्रतिनिधित्व नजर आता है अथवा इसमें और कुछ जोड़ने की आवश्यकता है। इस पाठ्यक्रम में मौजूदा पर्यावरण संबंधी मुद्दों जैसे- जलवायु परिवर्तन, संधारणीय विकास (सस्टेनेबल डेवलपमेंट), औद्योगिक एवं आर्थिक विकास तथा अगले 20-30 वर्षों में होने वाले विकास को ध्यान में रखते हुए आप इसमें किस प्रकार के परिवर्तन/परिवर्धन करने का सुझाव देंगे?

विधा के रूप में परिस्थितिविज्ञान के संदर्भ में ऊपर किए गए उल्लेख के अनुसार ही इसका उत्तर होना चाहिए। पहले मुद्दे के संबंध में मैं यह कहना चाहूंगा कि परिस्थितिविज्ञान के पाठ्यक्रम में कम या अधिक प्रतिनिधित्व का प्रश्न ही नहीं उठता है। एकीकृत विधा के रूप में परिस्थितिविज्ञान को पहचान देना ही सबसे महत्त्वपूर्ण आवश्यकता प्रतीत होती है जिससे हार्ड एवं सॉफ्ट दोनों विज्ञानों की अवधारणाओं को पूर्ण रूप से समझने में

मदद मिलेगी तथा इस प्रकार वैश्विक बदलाव को ध्यान में रखते हुए अत्यधिक वांछित तरीके से कुछ और जोड़ने ऐसे क्षेत्रों की पहचान करनी होगी। आधुनिक पर्यावरण संबंधी समस्याओं के समाधान के लिए हमारे छात्रों को तैयार करने हेतु मैंने आपके अगले प्रश्न के उत्तर के लिए उपर्युक्त सुझावों के अलावा तथा कुछ पाठ्यक्रम जो फिलहाल मेरे ध्यान में आ रहे हैं, को इस पाठ्यक्रम में जोड़ा जाना चाहिए। ये पाठ्यक्रम निम्न हैं :- जलवायु-परिवर्तन संबंधी मुद्दे, परिस्थितिजन्य अर्थशास्त्र, प्राकृतिक एवं सामाजिक विज्ञान का संबंध, जीव-जंतु परिस्थितिविज्ञान, परंपरागत ज्ञानपरक परिपाटियां आदि।

चूंकि आप विश्वविद्यालय के कुलदेशिक भी हैं। आप पर्यावरण विज्ञान के प्रचार-प्रसार के लिए बतौर प्रशासक पाठ्यक्रम में सुधार के लिए कौन से सुझाव देना चाहेंगे।

जी हां, आधुनिक समय के साथ कदमताल करने के लिए मौजूदा पाठ्यक्रम में राष्ट्रीय एवं अंतरराष्ट्रीय नीति एवं पर्यावरण सुरक्षा के संस्थानगत आयाम तथा संधारणीय विकास को शामिल करने की आवश्यकता है। मेरे विचार से इससे अंतर्विषयी पाठ्यक्रमों को पढ़ने का विकल्प देने के साथ-साथ इच्छुक छात्रों में पर्यावरण विज्ञान के प्रति काफी हद तक रुचि जागृत हो सकेगी। इससे न केवल छात्रों में अनेक प्रकार की विधाओं को जानने की समझ-शक्ति बढ़ेगी, अपितु व्यावसायिक और ऐच्छिक तौर पर पर्यावरण सुरक्षा के लिए अपेक्षित कौशल- विकास भी होगा। मैं इस बात पर भी जोर देना चाहूंगा कि इस पाठ्यक्रम में व्यावहारिक प्रशिक्षण एवं पर्यावरण संबंधी जागरूकता से जुड़े मुद्दों को भी शामिल करने हेतु सहज रूप से सोचने की जरूरत है जिससे व्यक्तिगत स्तर पर उत्तरदायित्व की भावना एवं व्यवहारजन्य परिवर्तन करने में मदद मिलेगी। इससे पर्यावरण में व्यक्ति के पदचिह्न - पर्यावरण सुरक्षा एवं मानवता के संधारणीय भविष्य में व्यक्ति के योगदान को सूचीबद्ध करने के लिए अत्यधिक वांछनीय परिवर्तन, न्यूनतम हो सकेंगे।

प्रो. सौमित्र मुखर्जी

आप 1992 से शिक्षण व शोध कार्य कर रहे हैं व आजकल संकाय अध्यक्ष भी हैं। इससे पहले आप बतौर वैज्ञानिक सुदूर संवेदन उपयोग केंद्र (1989-90) व केंद्रीय भूमि जल परिसर (1985-1989) में भी कार्यरत रहे हैं। आप पर्यावरण विज्ञान के पाठ्यक्रम व शोध के बारे में क्या विचार रखते हैं।

पर्यावरण विज्ञान का पाठ्यक्रम व शोध की दिशा मूलतः वहां के शिक्षकों के मूल विषय पर निर्भर करता है। जेएनयू में इस विभाग में, विज्ञान के विभिन्न प्रकोष्ठों के समन्वित अध्ययन व शोध होने की सम्भावना को और प्रगाढ़ किया जा सकता है यदि एक समन्वित पाठ्यक्रम शुरू किया जाए तो। इस पाठ्यक्रम के तहत पर्यावरण विभिन्न मुद्दों पर शोध और अध्ययन होना चाहिए। आज के परिप्रेक्ष्य में एक पर्यावरणविद यह नहीं कह

सकता कि वह भौतिकी, गणित, रसायनशास्त्र, भू विज्ञान या जीव विज्ञान पर शिक्षण और शोध कर रहा है। हमें इस पर अधिक प्रयास करना चाहिए कि एक समन्वित सोच का विकास किया जाए जिसके मूल केंद्र में भिन्न-भिन्न पर्यावरण की समस्याओं को समझने व उनके समाधान को ढूंढने का प्रयास किया जाए। हाल का पाठ्यक्रम भी देश में सबसे बेहतर है व हमारी शिक्षण व शोध की गुणवत्ता देश ही नहीं अपितु विदेशों में भी सराही जाती है। सभी विद्यार्थी अच्छी-अच्छी जगहों पर पठन-पाठन व शोध का कार्य कर रहे हैं।

जेएनयू में आने से पहले आप दूसरे संस्थानों में भी रह चुके हैं। आप उन संस्थाओं व जेएनयू की पाठ्यक्रम व शोध शैली में मुख्यतः क्या फर्क महसूस करते हैं।

मैंने देश के विभिन्न प्रांतों में हिमालय से लेकर अंडमान निकोबार, सुन्दरवन व बुन्देलखण्ड जैसी जगहों पर काम किया है। इसका मुख्य उद्देश्य जल संसाधन और पर्यावरण का समन्वित अध्ययन भू विज्ञानिक और सुदूर संवेदन के अत्याधुनिक उपकरणों द्वारा करना था। इस अनुभव का इस्तेमाल मैं यहां विद्यार्थियों के शिक्षण व शोध कार्य व विश्वविद्यालय के सतत विकास के लिए कर रहा हूँ।

यहां पर शिक्षण व शोध के मानव संसाधन तैयार हो रहा हैं जो विभिन्न संस्थानों व विश्वविद्यालयों में कार्यरत होकर देश सेवा कर रहे हैं।

आप जलवायु परिवर्तन व औद्योगिक विकास की रफ्तार को ध्यान में रखकर, पर्यावरण पाठ्यक्रम में अगले 20-30 वर्षों में क्या बदलाव सुझाना चाहेंगे।

हमें विभिन्न विज्ञान विषयों के integration पर ध्यान देने की आवश्यकता है। पृथ्वी का वातावरण केवल मनुष्य द्वारा ही नहीं अपितु प्राकृतिकी तौर पर भी परिवर्तित होता है। बाहरी ग्रहों व तारों जैसे कि सूर्य, द्वारा भी परिवर्तित होता है। इन सब पर नए विषयों को लाने की जरूरत है। हमें कुछ engineering component को भी जोड़ने की जरूरत है।

प्रो. पंडित सुदन खिलारे

प्रो. खिलारे आप को लगभग 30 वर्षों का पर्यावरण शिक्षा व शोध का अनुभव है। आपने पाठ्यक्रम में क्या बदलाव देखे। सन् 2010 में पर्यावरण पाठ्यक्रम बदलाव में आपने अहम् भूमिका निभाई है।

हमारा संस्थान 1972 में Stockhom Summit के बाद सन् 1974 में खोला गया। इसके मास्टर कोर्स शुरू हुआ और एक छोटे अन्तराल के लिए बन्द रहने के बाद सन् 1987 से निरन्तर जारी है। तब से सन् 2010 तक पाठ्यक्रम की संरचना में मूलतः कोई परिवर्तन नहीं किया गया, शिक्षक समय समय पर आवश्यकता अनुसार पढ़ाने की शैली व content को सुधारते रहे हैं। सन् 2009 में मैंने तत्कालीन कुलपति की सलाह पर पाठ्यक्रम बदलाव कार्य

प्रारम्भ किया और 2010 में खत्म हुआ। इस दौरान बाहर से शिक्षकों, विशेषज्ञों व स्कूल के विद्यार्थियों व शिक्षकों से सलाह मसविरा व वर्कशाप/सेमिनार कर व समकालीन पर्यावरणीय समस्याओं को देखकर पाठ्यक्रम बदला गया जो कि अभी सुचारू रूप से चल रहा है। यह पाठ्यक्रम बाकी विश्वविद्यालयों व यूजीसी के लिए भी मार्गदर्शक का कार्य कर रहा है। नए पाठ्यक्रम में पहले दो सेमेस्टर में कोर कोर्स पढ़ाए जाते हैं तथा तीसरे व चौथे सेमेस्टर में प्रोजेक्ट वर्क पर काफी बल दिया गया है। फील्ड वर्क को काफी तब्ज्जो दी गई है।

आप आज की पर्यावरणीय समस्याओं को देखते हुए पाठ्यक्रम में और क्या नए बदलाव सुझाना चाहेंगे।

मेरी समझ में किसी भी विषय और विशेषतः पर्यावरण विज्ञान जैसे विषय के पाठ्यक्रम का 5 से 6 वर्ष के अन्तराल पर नियमित अवलोकन होना चाहिए। अभी भी कुछ कोर्सिस में ऑवरलेप है उसको हटा कर नए विषय जैसे कि Science of climate change, adoption & miligation, modeling of polutants को शुरू करने की आवश्यकता है। पर्यावरण पाठ्यक्रम का मुख्य बिन्दु विज्ञान पर आधारित रहना चाहिए क्योंकि दूसरे आयामों जैसे कि Env. Technology, managment, governance पर देश के दूसरे संस्थान काम कर रहे हैं।

इसी तरह शोध कार्य को भी interdisciplenery approach के तहत और गहन बनाने की आवश्यकता है।

प्रो. कृष्ण कुमार

प्रो. कुमार आप 2005 से इस स्कूल से बतौर शिक्षक और 1987-1997 बतौर विद्यार्थी जुड़े रहे हैं। आपके शिक्षा ग्रहण करने व शिक्षक बनने के दौरान, आपने पाठ्यक्रम में क्या मुख्य बदलाव महसूस किए।

बहुत बदलाव नहीं कह सकते। पाठ्यक्रम के नाम में तो बदलाव नहीं हुआ पर समय-समय पर विषय बदला हुआ देखा। कुछ पाठ्यक्रम शिक्षकों के सेवानिवृत्ति के साथ बंद हुए और कुछ नए शिक्षकों के आने पर शुरू किए गए। कुछ पाठ्यक्रम (courses) का महत्त्व नए शिक्षकों ने उसके content को contemporary issues से जोड़कर बढ़ाया है।

आप जेएनयू के अलावा कुरुक्षेत्र व गुरु जम्बेश्वर विश्वविद्यालय के पर्यावरण संस्थानों में बतौर शिक्षक रहे हैं। आप जेएनयू में पर्यावरण शिक्षा के पाठ्यक्रम को पिछले अनुभवों से कैसे मापते हैं।

पिछली जगहों पर विभाग पर्यावरण स्टडीज के रहे जबकि यहां पर्यावरण विज्ञान पर आधारित हैं। मूलतः वहां पर पर्यावरण अर्थशास्त्र व कानून, सामाजिक दृष्टिकोण व इंजीनियरिंग विषय भी पढ़ाए जाते थे जबकि यहां पर हमारा पर्यावरण के विभिन्न वैज्ञानिक पक्ष पर केंद्रित है। इस संस्थान की नींव एक multidisciplenary approach पर रखी गई है।

प्रो. कुमार आप अगले 20-30 वर्षों की सीमा व विश्वदेशीय प्रतिस्पर्धा को देखते हुए पाठ्यक्रम में क्या बदलाव सुझाना चाहेंगे।

अभी हमें विश्वस्तरीय लेवल पर चीजों को जानने के लिए Computer programming व विषयों के integration की अत्यन्त आवश्यकता है। विश्वभर में मॉडल्स जैसे कि WRF CAM (रसायनशास्त्र व meteorology आधारित), GEOS-CAM का इस्तेमाल हो रहा है। हमें भी ऐसे विषयों की Theoretical व Hands on training की व इनको पाठ्यक्रम में शामिल करने की आवश्यकता है। एक पर्यावरण व मानव स्वास्थ्य व वन्य जीवन परिस्थितिकी जैसे विषयों पर पाठ्यक्रम बनाने की जरूरत है। हम अपने पुराने शिक्षकों की सोच को पूर्णतया कार्यान्वित नहीं कर पाए हैं और शोध में आपसी तालमेल व सहयोग को लेकर चलने की अहम आवश्यकता है।

डॉ. जयन्त कुमार त्रिपाठी

क्या आप आज के पाठ्यक्रम को संतुलित मान रहे हैं या इसमें कुछ सुधार की आवश्यकता है?

आज का पाठ्यक्रम जब बनाया गया था तब जेएनयू के अलावा कुछ चंद संस्थानों में ही यह विषय पढ़ाया जाता था। आज पर्यावरण को समझने का हमारा नजरिया व समझ काफी बदल चुकी है तथा यह विषय लगभग सभी विश्वविद्यालयों में पढ़ाया जाने लगा है। अतः मेरी समझ में पाठ्यक्रम के अवलोकन व इसमें परिवर्तन की आवश्यकता है।

आप यहां 2006 में शिक्षक बनने से पहले 1991 से विद्यार्थी और उसके बाद पीडीएफ के तौर पर काम कर चुके हैं। आपका दो दशक का भू-विज्ञान की पढ़ाई व शोध का अनुभव रहा है। आप बताएं कि बीते वर्षों से अभी तक पर्यावरण विज्ञान के पाठ्यक्रम में मुख्यतः भू-विज्ञान का क्या योगदान रहा है व किस तरह का संबंध व अंतःसंबंधित महत्व है।

पर्यावरण विज्ञान में भू-विज्ञान का सबसे बड़ा महत्व है क्योंकि जो भी पदार्थ पर्यावरण में विराजित है वो पृथ्वी से ही उत्पादित या सृजित हुआ है। अतः पृथ्वी के बनने से लेकर अभी तक की पर्यावरणीय परिस्थिति की जानकारी पर्यावरण विज्ञान के छात्रों के लिए बहुत महत्वपूर्ण है। अगर मनुष्यजनित प्रदूषण को एक तरफ छोड़ दिया जाये तो इसके आलावा भी पृथ्वी पर बहुत सारे भू एवं पर्यावरणीय उथल-पुथल हुए हैं। उदाहरण के तौर पर कार्बन डाइऑक्साइड की अधिकाधिक मात्रा एवं आज से भी ज्यादा तापमान पृथ्वी पर विद्यमान रहा है। उन परिस्थितियों में परिस्थितिकी फिर से कैसे सुव्यवस्थित हुई, यह जानकारी भू-विज्ञान से ही आती है।

अब नमामी गंगे, कौशल-भारत, कुशल-भारत, स्वच्छ-भारत के तहत उन सारे नए आयामों जैसे कि विश्वपर्यावरण एवं देशहित के लिए हमारे प्राकृतिक संस्थानों का दोहन और प्रबंधन (managment) करना, इत्यादि को विशेष प्राथमिकता देनी होगी।

हमें यह भी सुनिश्चित करना होगा कि हम देश के नए और दूसरे संस्थानों (IIT, IISER, Universities) से प्रतिस्पर्धा बनाए व आगे निकलने के लिए प्रयासरत रहें। अतः पाठ्यक्रम का मूल्यांकन कर उचित बदलाव की आवश्यकता है।

आपकी नजर में अगले 20-30 वर्षों तक की दूरी को देखते हुए पाठ्यक्रम व शोधकार्य को किस नई दिशा की जरूरत है।

अभी शोध हेतु हमारा संस्थान चार प्रभागों में बंटा हुआ है जो कि क्रमशः भौतिक, गणित, भू विज्ञान, रसायनशास्त्र व जीव विज्ञान पर आधारित है। जहां तक शोध का सवाल है, हर भाग में अंतरानुशासनिक शोध (Interdisciplinary research) हो रहा है जो कि जेएनयू का mandate भी है। कुछ शोध कार्य लगभग हर प्रभाग में हो रहे हैं। अतः हमें विशेष Theme based प्रभाग बनाने की जरूरत है जिसमें विभिन्न विषयों के शिक्षक मिलकर एक Topic पर पूर्णतया Interdisciplinary और intensive शोध कार्य कर किसी समस्या की गहराई तक जा कर उसका समाधान खोज सकें।

डॉ. मीनाक्षी दुआ

आप माइक्रोबायोलॉजी में शोध करने के बाद, पिछले एक दशक से ज्यादा समय से इस स्कूल में पाठन व शोध का कार्य कर रही हैं। आपके कोर विषय व पर्यावरण विज्ञान पाठ्यक्रम में कैसा समन्वयन जरूरी समझती है।

कीटाणुविज्ञान, पर्यावरण विज्ञान का एक अभिन्न अंग है। हमारा ग्रह और हमारा पर्यावरण, दोनों विभिन्न प्रकार के कीटाणुओं से प्रभावित हैं। ये कहना ज्यादाती नहीं होगी कि हमारे पर्यावरण की समस्याओं का हल कीटाणुओं से मिल सकता है। कीटाणुविज्ञान में इतना शोध कार्य तो हो चुका है कि बतौर आम-आदमी भी इसके प्रति जागरूक हैं। न केवल कीटाणु मानव नस्ल से कई गुणा ज्यादा दुरुस्त हैं बल्कि वे हमें एक sustainable world की तरफ ले चलने के भी काबिल हैं। शायद इसका कारण इस प्रजाति का पिछले 4 Billion सालों से धरती पर लगातार evolve होना है। इतनी महत्ता के बावजूद कीटाणुविज्ञान को पर्यावरण विज्ञान में एक isolated दृष्टि से देखा जाता है। पाठ्यक्रम को और inclusive एवं realistic बनाने के लिए, मैं यह जरूरी समझती हूँ कि कीटाणुविज्ञान का integration बाकी विषयों जैसे भू-विज्ञान, भौतिकी एवं रसायनशास्त्र के साथ होना चाहिए।

आपके अनुसार, हाल की पर्यावरणीय व स्वास्थ्य समस्याओं के मद्देनजर और 25-30 साल आगे की सोचते हुए, पर्यावरण पाठ्यक्रम में क्या परिवर्तन होने चाहिए?

दो दशक पहले कीटाणुविज्ञान जिस तरह से पढ़ाया जाता था, अब उसमें काफी परिवर्तन है। यह paradigm shift इसीलिए हुआ क्योंकि कीटाणुओं को दुनिया को समझने के लिए आज ऐसी molecular techniques हैं जो आज से पचास साल पहले शायद संभावित नहीं थी। आज हम कीटाणुविज्ञान में 'Qmics' के युग में खड़े हैं जहां पर्यावरण और स्वास्थ्य में कीटाणुओं की गतिविधियों को molecular level पर समझना बिल्कुल मुमकिन है और वो भी बहुत reasonable समय में। लेकिन इस development का सही लाभ तभी होगा जब हम पढ़ने और समझने के साथ-साथ अनुप्रयोगात्मक शोध को भी अपने कक्षाओं (classrooms) में लाएं। इस समय अनुप्रयोगात्मक शोध हमारे देश की किंचित् अनुदान प्राप्त प्रयोगशालाओं तक ही सीमित है। मैं समझती हूँ पर्यावरण पाठ्यक्रम में जरूरी है कि हम शोध और industry, lab और classroom, scientific organization और society एवं वैज्ञानिक और आम आदमी के बीच में integration facilitate करें।

संवाद सारांश :

विभिन्न शिक्षकों, जिनका कि कोर विषय अलग-अलग रहा है और अभी इस स्कूल से जुड़े हैं, के बीच पर्यावरण विज्ञान के पाठ्यक्रम को लेकर कुछ बिन्दुओं पर वैचारिक सहमति दिखती है। इनमें विभिन्न विषयों को लेकर interdisciplinary शिक्षण व शोध व कुछ नए विषयों computer modelling, influence of other planet/ star on earth and environment, पर्यावरण सुरक्षा व सस्टेनेबल डेवलपमेंट पर राष्ट्रीय व अंतर्राष्ट्रीय नीति, engineering aspects को जोड़ने पर बल देने की आवश्यकता महसूस की गई है। यह भी अतिशयोक्ति नहीं होगी कि यह स्कूल देश व दुनिया और अपने स्वयं के विश्वविद्यालय के अग्रणी स्कूलों में से एक है। संवाद के बाद यह बात भी साफ हो रही है कि हमारे शिक्षण व शोध को समाज के विभिन्न भागों तक पहुंचाने की व समाज को इसमें भागीदार बनाने की अत्यन्त आवश्यकता है। पर्यावरण शिक्षा के साथ-साथ नागरिकों की पर्यावरण के प्रति जागरूकता व भागीदार (outreach programme) बढ़ाने वाले कार्यक्रमों को भी बढ़ावा देना चाहिए। ऐसा होने से पर्यावरण संतुलन बनाए रखने में काफी मदद मिलेगी।

चूंकि पर्यावरणीय समस्याएं हर कुछ अन्तराल पर मानवीय व प्राकृतिक कारणों से बदल रही हैं, इसलिए हर 5 से 6 वर्ष के बाद विषयों का अवलोकन करने का विचार भी सही लग रहा है।

अंत में, इस संवाद से बाहर निकलकर, विश्वविद्यालय के सदस्यों से अनुरोध है कि हमारा विश्वविद्यालय एक सुन्दर व प्राकृतिक प्रयोगशाला की तरह है इसको बचाने व संतुलित रखने के पूर्ण भागीदार बनें।

हम हिन्दी भाषा के मसले में बुद्धिमानी से काम लें, इसको 'एक्सक्लूसिव' के बदले 'इंक्लूसिव' बनाएं और इसमें भारत की उन सभी भाषाओं के तत्वों को शामिल करें जिनसे यह बनी है, कुछ उर्दू के छींटे हों और हिन्दुस्तानी भी हो।

- जवाहरलाल नेहरू, संविधान सभा में



वस्तु एवं विचार के विनिमय हेतु मानव सभ्यता के प्रारम्भ से ही अनुवाद का प्रायोजन होने लगा था। यहाँ अनुवाद के उस व्यापक अर्थ की बात की जा रही है, जिसमें मनुष्य मौलिक समझकर जो कुछ रचता, करता, बोलता, या लिखता है; उनमें से कुछ भी मौलिक नहीं होता, सारा कुछ उनके पूर्व-पाठ का अनुवाद होता है, अनुकरण होता है। प्राथमिक स्तर पर कर्ता द्वारा जो कुछ सोचा गया, वह मौलिक होता है, और उसे भौतिक स्वरूप देने के लिए जो कुछ किया जाता है, वह उसके सोच-समझ का अनुवाद होता है। भारत में, और विश्व की सभी भाषाओं में अनुवाद की प्रारम्भिक स्थिति यही रही है।

इस तरह प्राचीन-काल में ही वस्तु एवं विचार के विनिमय हेतु समाजहित में आविष्कृत अनुवाद का भरपूर उपयोग ज्ञान एवं धर्म के सहज संचार जैसे पुनीत कार्य में हुआ। आगे चलकर यह किसी खास भाषा के स्थगित को पाठ को दूसरी भाषा में पुनरुज्जीवन देने लगा और वृहत्तर पाठक समुदाय में उसका प्रवेश कराने लगा। फिर समाज-व्यवस्था और शासन-तन्त्र के सफल संचालन में इसने अपनी अनिवार्य भूमिका अदा की। इतिहास गवाह है कि अतीत-काल के समस्त मनीषी अपने नैष्ठिक योगदान से इसकी उक्ता गरिमा का अनुरक्षण करते रहे। हर दौर के भाष्यकारों, टीकाकारों, अनुवादकों ने अपने नैतिक दायित्व और सामाजिक सरोकार के अधीन ही इस निष्ठा का परिचय दिया है। लक्षित भाषा के प्रयोक्ताओं के बीच अनूदित पाठ की सम्प्रेषणीयता अनुवाद की प्राथमिक और सर्वाधिक प्रयोजनीयता मानी गई है। पाठ सम्प्रेषणीय न हो, तो वह अनुवाद निष्प्रयोजन माना जाएगा। मानव-सभ्यता के किसी दौर में निष्प्रयोजन कर्म को कार्य मानने की परम्परा नहीं रही है।

भारतीय अनुवाद उद्यम की इस अत्यन्त प्राचीन परम्परा का सघन उपयोग उपनिषद काल से ही ज्ञानदान एवं समाज-व्यवस्था के संचालन हेतु होता आया है। भाष्य, टीका, व्युत्पत्ति, विश्लेषण, व्याख्या, अनुवचन, अनुकथन...तमाम विधियों से भारतीय चिन्तक ज्ञान, धर्म, और विचार की अभिव्यक्ति करते आए हैं। भारतीय ज्ञान के ध्वजधारीगण अपने-अपने समय के नागरिकों के भाषा-ज्ञान और ग्रहण-शक्ति के अनुकूल सरल भाषा में शास्त्र-पुराणों का पुनर्कथन या आत्मसातीकरण (एप्रोएशन) करते रहे हैं। रामचरितमानस या विभिन्न भारतीय भाषाओं में रचित रामकथाओं, कृष्णकथाओं के पुनर्कथन में अनुवाद का यह उद्यम देखा जा सकता है।

उल्लेखनीय है कि राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर उन्नीसवीं सदी से पूर्व विपुल अनुवाद-कार्य हुए। उन सभी अनुवादकों और अनुवाद कराने वाले शासकों की धारणा अत्यन्त पवित्र और स्पष्ट रहती थी। एक सुबुद्ध नागरिक होने के नाते वे दुनिया की किसी भाषा में उपजे ज्ञान को जनसुलभ बनाना अपना दायित्व समझते थे। प्रसिद्ध भारतीय ग्रन्थ 'पंचतन्त्र' का आठवीं सदी में अरबी में अनुवाद और फिर दुनिया की अन्य भाषाओं तक उसकी पहुँच, इसी बात का सूचक है। गौरतलब है कि उन दिनों अनुवाद-कार्य आज की तरह धनार्जन का साधन नहीं था। यशःकीर्ति की लालसा भी अनुवादकों में उन दिनों उग्र नहीं थी। अनुवादकर्मी एक तरह के स्वनियोजित समाजसेवी होते थे। अपना दायित्व-फलक स्वयं तय करते थे, और उसका अनुपालन करते थे। प्राचीन और मध्यकालीन भारतीय अनुवाद-चिन्तकों पर चर्चा के विस्तार से तत्काल बचकर आगे निकलें तो आधुनिक काल में आकर देखते हैं कि भाषा-साहित्य की समृद्धि का विराट दायित्व-वहन करते हुए भी महावीर प्रसाद द्विवेदी ने सन् 1889-1907 तक के अठारह वर्षों में चौदह महत्त्वपूर्ण कृतियों के अनुवाद किए जिनमें 'शिक्षा' और 'स्वाधीनता' (सन् 1906 में अनूदित हर्बर्ट स्पेंसर की कृति 'एज्युकेशन' और सन् 1907 में अनूदित जॉन स्टुअर्ट मिल की कृति 'ऑन लिबर्टी' इस कारण भी विशेष महत्त्व की है कि स्वाधीनता आन्दोलन में इन दोनों कृतियों की विशेष भूमिका रही है। सन् 1895-99 के बीच जर्मन में लिखित और सन् 1901 में अंग्रेजी में प्रकाशित अन्स्ट हेकल की कृति 'द रिडुल्से ऑफ युनिवर्स' का विश्वप्रपंच शीर्षक से रामचन्द्र शुक्ल द्वारा किए गए अनुवाद का भी ऐसा ही महत्त्व है। उल्लेखनीय है कि प्राणिविज्ञान की इस कृति का अनुवाद आचार्य शुक्ल ने उस समय किया, जब हिन्दी में कोई वैज्ञानिक शब्दकोश नहीं था। आचार्य शुक्ल ने स्वयं उसके लिए शब्द गढ़े। सन् 1880 में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा दुर्लभ बन्धु (मर्चेण्ट आफ वेनिस, शेक्सपियर) शीर्षक से अनूदित कृति को भी इसी दृष्टि से देखा जा सकता है।

भारत में समाज-हितैषी अनुवाद-कर्म की यह पुनीत परम्परा प्राचीन काल से भली-भाँति चली आ रही थी। मुगलों के आगमन के बाद भी यह कार्य खूब फलता-फूलता नजर आया। बल्कि अकबर के शासन-काल में तो इसका भरपूर विकास हुआ। दाराशुकोह के अनुवादकीय अवदान को तो पूरा जगत नमन करता है। शासन के शिकारी अंग्रेजों ने भारत आकर इसकी पवित्रता भंग कर दी। हुआ यूँ, कि 02 फरवरी, 1835 को ब्रिटिश पार्लियामेंट में लॉर्ड मेकॉले ने वक्तव्य दिया कि "मैंने पूरे भारत का भ्रमण

किया, लेकिन कहीं भी ऐसा आदमी नहीं मिला, जो भिखारी या चोर हो। मैंने पाया कि यहाँ के लोग उच्च नैतिक मूल्यों एवं अत्यधिक क्षमता के धनी हैं, जिससे मुझे नहीं लगता कि हम कभी इस देश को जीत पाएँगे। जब तक इसके मेरुदण्ड माने जानेवाले आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक विरासत को न तोड़ा जाए, तब तक हम इस देश पर अपना शासन जमा नहीं पाएँगे। अतः मेरा प्रस्ताव है कि इसके प्राचीन एवं परम्परागत शिक्षा प्रणाली और संस्कृति को बदला जाए, क्योंकि जब भारत के लोग यह अनुभव करेंगे कि यह शिक्षा-प्रणाली और संस्कृति आयातित हैं, हमारी भाषा और संस्कृति की तुलना में अंग्रेजी अच्छी एवं महान् है, तब वे अपना स्वाभिमान खो बैठेंगे और स्थानीय संस्कृति से विमुख हो जाएँगे। अन्ततः वे वैसे बन जाएँगे, जैसा हम चाहते हैं।”

अब अंग्रेजों की चिन्ता भारत के आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक विरासत का मेरुदण्ड तोड़ने की ओर अग्रसर हुई। इसके लिए उनके समक्ष एक मात्र रास्ता अनुवाद था। अनुवाद के जरिए ही वे हमारे आध्यात्मिक धरोहर को जान सकते थे। उन्होंने आनन-फानन हमारे प्राचीन ग्रन्थों के दूषित अनुवाद करवाए, जाहिर है कि उनके इस कुटिल कार्य में हमारे ही देश के आत्महीन नागरिक शामिल थे। और, उस दूषित अनुवाद के अवांछित उदाहरण सामने रख कर वे भारतीय जनता के मन में हीन-ग्रन्थि भरने लगे। महावीर प्रसाद द्विवेदी, रामचन्द्र शुक्ल, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जैसे मनीषियों द्वारा अनूदित यूरोपीय साहित्य ऐसे ही समय में कारगर साबित हुआ। भारतीय नागरिक का हीनताबोध मिटाकर, उनके आहत मनोबल को सन्तुरलित कर, उन्हें गर्वोन्नत करने में उन अनूदित कृतियों का बड़ा योगदान रहा। ज्ञान एवं संस्कृतियों के पारदर्शी प्रसार में सदियों से क्रियाशील अनुवाद-कर्म यहाँ आकर अंग्रेजों की शासकीय दुर्वृत्ति के कारण दूषित होने लगी, जिसका मुँहतोड़ जवाब भारतीय चिन्तकों ने दे तो दिया, पर यहाँ से अनुवाद-कर्म का दायित्व बढ़ गया, उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया।

ज्ञान और विचार के प्रचारार्थ सर्वमान्य अत्यन्त उपयोगी साधन ‘अनुवाद’ की पवित्रता और निश्छलता भंग हुई और ‘पॉलिटिक्स ऑफ ट्रान्सलेशन’ उग्र हो गई है। ध्यातव्य है कि इस पदबन्ध का समानार्थी ‘अनुवाद की राजनीति’ नहीं हो सकता। इसे अनुवाद की ‘पॉलिटिक्स’ कहना ही उचित होगा। या विद्वज्जन स्वीकार करें तो इसके लिए अनुवाद का पार्श्वपक्ष/अन्तर्लक्ष्य/राजनय जैसा कोई पदबन्ध निर्धारित किया जा सकता है; क्योंकि अनुवाद-धारणा या अनुवाद-उद्देश्य जैसा पदबन्ध सारा कुछ तो ध्वनित कर देता है, उसकी कुटिलता और जटिलता को इंगित नहीं करता। जाहिर है कि इन जटिलताओं के कारण अनुवादकों का दायित्व बहुत बढ़ गया। स्रोत-पाठ के शब्दों का सही विकल्प लक्ष्य-पाठ में तय करते समय उन्हें बहुत सावधान रहने की आवश्यकता होने लगी। ऐसा इस कारण भी हुआ कि यहाँ तक आते-आते अनूदित पाठ के अर्थदोहन की मानवीय प्रवृत्ति भी अत्यन्त जटिल और कुटिल हो गई। लक्षित उद्देश्य की पूर्ति हेतु ऐसे भाष्यकारों ने रोचक तरकीबों का आविष्कार किया। वे विमर्श एवं व्याख्या की सूक्ष्म पद्धति के नाम पर पंक्तियों, पदों, शब्दों, विरामचिह्नों, साँस की

रुकावटों की फाँक में फँसे अर्थ दूहने लगे। उनमें ऐसी-ऐसी व्यंजनाएँ डालने लगे, जिनकी कल्पना अनुवादक ने सपने में भी न की होगी। अवान्तर कामनाओं की पूर्ति के उद्देश्य से अपनाई गई उस पद्धति को वे भाष्यकार विचार-व्यवस्था की अधुनातन और सूक्ष्मतर दृष्टि बताते गए। ब्रिटिश सम्पोषित भारतीय अनुवाद में उपजी और विकसित हुई इस दुर्नीति से नुकसान तो बहुत हुआ, पर लाभ भी कम नहीं हुआ। आगे के विद्वानों की व्याख्या-पद्धति विकसित हुई, अनुवादकों के कौशल परिष्कृत हुए, और आगे के दिनों में भारतीय मनीषियों को उस दुर्नीति से बड़ी प्रेरणा मिली। बड़े मनोयोग से उन लोगों ने भारतीय अनुवाद-परम्परा को सम्पुष्टि किया।

भारतीय स्वाधीनता के कुछ वर्ष पूर्व से ही, अर्थात् द्वितीय विश्वयुद्ध के तत्काल बाद से ही अन्तर्राष्ट्रीय कूटनीतिक सम्बन्धों में अनुवाद की महती भूमिका दिखने लगी थी। अनुवादकों का दायित्व प्रबल हो उठा था, समानार्थी शब्दों के सही विकल्प और भाषा-संरचना के उपयुक्त फलक तय करने की सावधानी अनिवार्य हो गई थी। अर्थ की विराट सम्भावना एवं भाषिक-प्रयुक्तियों की ध्वन्यार्थमूलक संवेदनशीलता के कारण भाष्य और टीका से काम चलना मुश्किल होने लगा था। कानूनी दौंव-पेंच, व्यापारिक करार और कूटनीतिक वक्तव्य में कई प्रतीकार्थ व्यवधान या अर्थबहुलता उत्पन्न करने लगे थे। फलस्वरूप शब्दार्थ से अधिक प्रबल कथन का ध्येय हो गया था। विदित है कि स्थानीय भाषिक संस्कार के कारण हर भाषा में शब्द-प्रयोग का खास ध्वन्यार्थ होता है, भौगोलिक परिवेश की भिन्नता और प्रयुक्तियों की स्थानीयता के कारण शब्दों में अक्सर विशेषार्थ भर जाते हैं, सारानुवाद या भावार्थ वहाँ काम नहीं आता। साहित्यिक पाठ के अनुवाद में तो यह जटिलता खास तौर पर बढ़ जाती है। भारतीय अनुवाद-परम्परा प्राचीन काल से दायित्वबोध- सम्पन्न अनुवादकों एवं अनुवाद-चिन्तकों के ऐसे ही अनुराग से सम्पोषित है, और अपनी निरन्तर गर्वोन्नत रहता आया है। अनुसन्धित्सु लोग इस परम्परा की दीर्घ शृंखला की पड़ताल हेतु उद्यमशील होएँ तो उन्हें स्पष्ट दिखेगा।

अनुवाद-कर्म की यह संवेदनशीलता दुनिया भर की सभी भाषाओं में सदा पूजित होती रही पर, जब से छापाखाने का विस्तार हुआ, व्यवसायपरक मुद्रण-व्यवस्था बढ़ी, स्वातन्त्र्योत्तर काल में भारत में अनुवाद-क्षमता के बूते धनार्जन की सुविधा बढ़ी, अनुवादकों की यशःलिप्सा उग्र हुई... भारतीय परिदृश्य में अनुवाद-कार्य में दायित्वहीनता भी उसी अनुपात में बढ़ी। बहुलांश में दिख रही इधर की अनुवादकीय लापरवाही दुःखद है। साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली द्वारा प्रति वर्ष विभिन्न भारतीय भाषाओं के बाइस अनुवादकों को पुरस्कृत किया जाता है। नेशनल बुक ट्रस्ट, इण्डिया प्रति वर्ष हिन्दी में तीन-चार दर्जन के आसपास अनूदित पुस्तकें प्रकाशित करता है। अन्य भारतीय भाषाओं में भी वहाँ से अनूदित पुस्तकें प्रकाशित होती हैं। इनके अलावा भी कई सरकारी-गैरसरकारी प्रकाशन संस्थानों से बेशुमार अनूदित पुस्तकें छपती हैं। अनुमान सहज है कि प्रति वर्ष भारत में हिन्दी में दो सौ से अधिक अनूदित

पुस्तकें छपती होंगी। पर, हासिल कुछ नहीं होता। रोजगार तो सबका चल जाता है, पर किताब का जो वास्तविक अर्थ है - पाठकों के मन-मिजाज में उतर जाना - वही भर नहीं होता। गैरजिम्मेदार अनुवादकों से अनुवाद करवाने और गैरजिम्मेदार सम्पादक से उसके छापे जाने की संस्तुति लेने के कारण ही इस तरह के दायित्वहीन कार्य सामने आते हैं।

तथ्य है कि राजभाषा के रूप में हिन्दी के अधिग्रहण के बाद से अनुवाद-कौशल के सहारे धनार्जन के अवसर स्पष्ट परिलक्षित होने लगे। विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के अवदान, अन्तर्राष्ट्रीय कूटनीतिक सम्बन्धों के प्रयोजन, विश्व ग्राम की अवधारणा, भूमण्डलीकरण की धारणा के विस्तार, ज्ञान एवं विचार के वैश्विक संचार...आदि कारणों से अनुवाद-कर्म का महत्त्व धनार्जन के स्रोत के रूप में प्रबल हुआ। सरकारी-गैरसरकारी कार्यालयों, संचार माध्यमों, पर्यटन, व्यापार, शिक्षण, प्रकाशन-उद्योग... सभी क्षेत्रों में अनुवादकों की माँग बढ़ी। फलस्वरूप विगत वर्षों में अनुवाद के हुनर की पहचान कमाई के साधन के रूप में हुई। इसके कई कारण हैं - शिक्षण, संचार-तन्त्र और व्यापार के क्षेत्र में बीते तीन दशकों में आए बेशुमार विस्तार से अनुवाद का सहयोग अनिवार्य हो गया। विज्ञान के अवदान से इन क्षेत्रों में सम्भावनाएँ इतनी बढ़ीं कि ज्ञान, संचार और व्यापार के छोटे-छोटे अंशों में विशेषज्ञता की आवश्यकता होने लगी। मनुष्य की यही आवश्यकता कभी अनुवाद के आविष्कार जननी हुई थी; इधर आकर इसी आवश्यकता ने अनुवाद की उपयोगिता बढ़ाई; और आज अनुवाद-उद्यम का उर्वर बाजार खूब फलता-फूलता नजर आ रहा है। अंग्रेजी समेत विभिन्न भारतीय भाषाओं से हिन्दी में बड़े पैमाने पर अनुवाद हो रहे हैं, बड़ी संख्या में अनूदित किताबें छप रही हैं, बिक भी रही हैं। हिन्दी प्रकाशन के पिछले छह दशकों का जायजा लें तो कुल प्रकाशित सामग्री में अनूदित पाठ का एक बड़ा हिस्सा मिलेगा। इनमें साहित्यिक एवं कार्यालयी पाठ के अलावा पाठ्य-पुस्तकों के अनुवाद भी शामिल हैं। इस समय जीवन-व्यवस्था और समाज-व्यवस्था की कोई भी शाखा अनुवाद के अवदान से मुक्त नहीं है। अनुवाद के बिना शोध, शिक्षण, ज्ञानार्जन का सम्पूर्ण क्षेत्र विकल होता दिखेगा; नवसंचार-तन्त्र की साँसें उखड़ती दिखेंगी; व्यापार एवं प्रकाशन-उद्योग की टाँगें लड़खड़ाती दिखेंगी, सारे व्यापारी एवं प्रकाशक पिछड़े हुए धावक की तरह किसी कोने में दुबके मिलेंगे; अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक-व्यापारिक सम्बन्धों का कोई अस्तित्व नहीं होगा; दुभाषियों के सहयोग के बिना पर्यटन-व्यापार निष्प्राण हो जाएगा। ...पर विडम्बना देखें कि अनुवाद-कर्म के अधिकांश स्वघोषित सेनानियों की नजर में अनुवाद की इस महती गरिमा का कोई मूल्य नहीं है। वे निरन्तर इस पुण्यशील कार्य की मर्यादा को रौंदते नजर आते हैं। अनुवाद के मूल ध्येय का तिरस्कार करते हुए केवल अपने धनार्जन के लिए लोलुप दिखते हैं।

उन्हें मालूम होना चाहिए कि सम्प्रेषणीयता के बिना अनुवाद का उद्देश्य खण्डित और लांछित होगा। प्रारम्भिक दौर में अनुवाद-कार्य बेशक व्यवसाय का साधन न बना हो, पर शासन-तन्त्र अथवा समाज-व्यवस्था निश्चय ही उनकी पुण्याई के प्रति कृतज्ञता

ज्ञापित करते थे। यश, अर्थ की कुछ न कुछ वृत्ति उन्हें अवश्य प्राप्त होती थी। अपवादस्वरूप कबीर, सूर, तुलसी जैसे महान लोगों के नाम भी हमारे समक्ष हैं। पर आजादी बाद के दो दशकों तक के अनुवाद-सिद्ध मनीषियों में से किसी ने अधिक धन उगाहने के लोभ में अपने कर्म से समझौता नहीं किया। जबकि आज के अनुवादक बहुधा अपने उद्देश्यों से भटके हुए होते हैं। अनुवाद से उनका कोई वैचारिक लगाव नहीं होता, उनका प्राथमिक और एक मात्र लक्ष्य। धनार्जन होता है, वे इस क्षेत्र में आते ही हैं पैसा बनाने के लिए, सम्मान/पुरस्कार बटोरने के लिए। उनके लिए अनुवाद करने, मछली बेचने, टैक्सी चलाने, लॉटरी टिकट बेचने... सारे कामों का मूल्य बराबर है। हर व्यापार में पैसा बनता है। अनुवाद-कर्म की विलक्षणता अथवा गम्भीरता का उनकी नजर में अलग से कोई मूल्य नहीं होता। अनुवादक की नैतिकता का उनकी नजर में कोई अर्थ नहीं है।

हर अनुवादक को इस नैतिक सवाल पर विचार करने की जरूरत है कि वे अनुवाद करते क्यों हैं? उनका उद्देश्य केवल धनार्जन रहता है, या इस कर्म का कोई नैतिक दायित्व भी वे समझते हैं? मानव-सभ्यता के प्रारम्भिक दौर से अब तक के व्यवस्था-संचालन में अनुवाद की भूमिका जैसे अकादमिक बहस में गए बगैर यहाँ केवल उसके तात्कालिक प्रयोजन की बात करें - कि किसी पाठ के अनुवाद की जरूरत आखिरकार क्यों होती है?...सहज जबाब सामने आता है कि देश-दुनिया की किसी भाषा में ज्ञान की कोई बात कही गई है, जिसकी जानकारी उन लोगों को भी हो, जिन्हें वह भाषा नहीं आती। तब तो हर अनुवादक, अनुवाद-सम्पादक और अनुवाद-प्रकाशक का दायित्व बनता है कि वे अनूदित पाठ को बोधगम्य बनाकर प्रस्तुत करें! किन्तु व्यावहारिक तौर पर ऐसा होता नहीं। देखा जा रहा है कि अनुवाद की अपठनीयता और अबूझपन के कारण उपयोक्ता अन्ततः उसके अंग्रेजी पाठ की ओर रुख करते हैं। जब पाठ समझ में ही न आए, तो आखिरकार ऐसे अनुवाद का प्रयोजन क्या है! कार्यालयी अनुवाद हो, तकनीकी अनुवाद हो, साहित्यिक अनुवाद हो, ज्ञानात्मक साहित्य का अनुवाद हो... हिन्दी, के उपयोक्ताओं का काम उपलब्ध अनुवादों से भली-भाँति नहीं चलता, मूलभाषा का सहारा लिए बिना वे पाठ के मर्म तक पहुँच ही नहीं पाते। हार-थककर उन्हें मूल पाठ के शरण में जाना ही पड़ता है। जाहिर है कि अंग्रेजी पढ़कर समझ लेनेवालों के लिए किसी अंग्रेजी पाठ का हिन्दी अनुवाद नहीं होता। यह अनुवाद उनके लिए होता है, जिसका अंग्रेजी-ज्ञान तंग होता है। फिर ये अनुवादक, क्या काम निपटाने के लिए अनुवाद हैं? हवाई जहाज की हर सीट के पीछे लिखा रहता है - 'प्लीज फासेन द सीट बेल्ट व्हाइल सीटिंग।' इसका हिन्दी में अनुवाद किया गया है - 'कृपया बैठे हुए कुर्सी की पेटी बाँधे रखिए!' अब इसके अनुवादक ही बता सकेंगे कि उन्होंने क्या और क्यों यह अनुवाद किया है?

यह तो कार्यालयी अनुवाद का मात्र एक उदाहरण है, ऐसे कई उदाहरण लिए जा सकते हैं। मानविकी, समाजशास्त्र, संचार-तन्त्र और ज्ञानात्मक साहित्य के अनुवाद में तो इस दायित्वहीनता का

साम्राज्य छाया हुआ है। उन्हें इस बात का कतई इल्म नहीं होता कि ऐसे भ्रष्ट अनुवाद द्वारा वे एक साथ कितने-कितने अपराध करते हैं। पहला अपराध तो यह है कि उसके उपयोक्ता पुस्तक खरीदने में अपना धन लगाते हैं, पढ़ने में अपना श्रम एवं समय लगाते हैं, पर लाभान्वित नहीं हो पाते अर्थात् उनके साथ छल होता है। यह एक किस्म की ठगी है। इस अनुभव के कारण भविष्य में वे हिन्दी की किताबें खरीदने और पढ़ने से कतराएँगे, जो हिन्दी और पठन-रुचि - दोनों के साथ अन्याय है।

दूसरा अपराध है कि दूसरी भाषा से हिन्दी में अनूदित एक बड़े रचनाकार के परपुर-प्रवेश का समुचित स्वागत नहीं होता; हिन्दी के पाठक उनके रचनात्मक उद्यम और सामाजिक सरोकार के मर्म तक नहीं जा पाते। लिहाजा हिन्दी समाज की समझ और सहृदयता पर अनावश्यक आरोप जड़ दिया जाता है। तीसरा अपराध है कि इस दायित्वहीन हिन्दी अनुवाद के कारण बहुभाषिक भारतीय अनुवाद की गुणवत्ता और विश्वसनीयता खण्डित होती है। चूँकि कई स्थितियों में इन दिनों हिन्दी सेतु-भाषा का काम करने लगी है। कई भारतीय भाषाओं में सीधे अनुवाद हेतु आजकल अनुवादक नहीं मिलते कन्नाड़ से असमिया या तमिल से डोगरी या मलयालम से ओड़िया में सीधे अनुवाद करनेवालों का नितान्त अभाव है, अन्य भाषाओं में भी यही हाल है। ऐसे में हिन्दी अनुवाद सेतु-भाषा के रूप में काम करता है। साहित्य अकादेमी, नेशनल बुक ट्रस्ट, प्रकाशन विभाग जैसे सरकारी संस्थानों के साथ-साथ कई गैरसरकारी प्रकाशन संस्थान भी कई भाषाओं में प्रकाशन का कार्य करते हैं, उन्हें ऐसी विसंगतियों का सामना आए दिन करना पड़ता होगा। अब यदि सेतु-भाषा स्वयं ही अपनी सम्प्रेषणीयता के लिए दौत निपोड़ रहा हो, तो उस पाठ का अगली भाषा में प्रवेश कितना अभद्र होगा, यह विचारणीय है। चौथा अपराध विश्वाविद्यालयों की पुस्तकालयों में ऐसी पुस्तकों की उपस्थिति का है। चाहे अनचाहे ये पुस्तकें वहाँ पहुँचकर भारत के युवा-मानस को खीज से भर देती हैं। इससे शोध की दिशाएँ भी आहत होती हैं। पाँचवाँ अपराध प्रकाशन-उद्योग के सामाजिक सरोकार का है। अनुवादकों की ऐसी दायित्वहीनता के कारण प्रकाशन-उद्योग का मूल-धर्म लांछित होता है। छठा अपराध खरीदार पाठक के भरपूर आर्थिक-मानसिक शोषण के अलावा कागज जैसी राष्ट्रीय-सम्पदा के निष्प्रयोजन अपव्यय का है...। अपराधों की सूची और लम्बी बन सकती है। स्पष्ट है कि ऐसे अनुवादों से इस कर्म का एक भी उद्देश्य पूरा नहीं होता, फिर ये अनुवाद किसलिए और किसके लिए? जनहित एवं राष्ट्रहित में ऐसे असावधान अनुवादकों से अनुवाद-कर्म को बचाने की बड़ी जरूरत है।

गौरतलब है कि इस पूरी प्रक्रिया में किसी न किसी तरह कमाई सब कर लेते हैं, पर इस वृत्ति का मूल उद्देश्य धरा का धरा रह जाता। अनुवादक, प्रकाशक, पुस्तक विक्रेता... हर कोई अपना-अपना अंशलाभ पा लेते हैं, केवल उस कर्म की प्रयोजनीयता निष्फल जाती है। प्रारम्भिक दौर के प्रकाशन व्यवसायियों और अनुवाद उद्यमियों की यह मंशा तो कतई न रही होगी। उन्नत सामाजिक सरोकार के आग्रह की पुनीत धारणा से ही उन

पुण्यात्माओं ने इस जोखिम भरे क्षेत्र में पाँव रखा था। उनके लिए अनुवाद और प्रकाशन एक मिशन था, व्यवसाय नहीं। जब से अनुवाद की व्यावसायिकता स्पष्ट हुई, इस क्षेत्र में गन्ध फैलने लगा। जाहिर है कि शत-प्रतिशत इस उद्देश्यविमुखता का कारण धनलाभ की उग्र कामना है। लगाए हुए श्रम और समय का मूल्य पूरी तरह वसूल लेना ही अब उनका धर्म हो गया है, अपना मूल-धर्म वे भूल चुके हैं। सम्भवतः यही कारण हो कि वृहत्तर समाज आज के अनुवादकों को वह सम्मान नहीं देता, जो कभी भारत में यास्क, कुमारजीव, पाणिनि, सायणाचार्य, पण्डितराज जगन्नाथ, अब्दुल कादिर बदायूनी, अबुल फजल, टोडरमल, फैजी, दाराशिकोह को प्राप्त था। साहित्य अकादेमी अथवा अन्य संस्थान बेशक आज अनुवाद-कार्य से जुड़े लोगों को उनके पुनीत कार्य हेतु सम्मानित करते हैं, पर तथ्य है कि भाषा एवं साहित्य के ज्ञान से सम्पन्न प्रथम श्रेणी की प्रतिभाएँ इस क्षेत्र में पाँव रखने से अब हिचकती हैं। हिन्दी पढ़ी में भाषाई ज्ञान के बूते धनार्जन करनेवाले अधिकांश बौद्धिकों की नैतिकता में तेजी से हुए ह्रास के साथ-साथ इस स्थिति के और भी कई कारण हैं।

पहला कारण है सस्ते मानदेय पर अनुवादक जुटाने की सहज वृत्ति। बढ़ती बेरोजगारी की वजह से आजकल ऐसे अनुवादकर्मी बड़े आराम से मिल जाते हैं। अनुवादक और नियोक्ता के इस आचरण से अनुवाद-कर्म की स्तरीयता लांछित हुई है। दायित्वहीन अनुवादकों की भरमार और अनुवाद-शुल्क की न्यूनता देखकर ज्ञान-सम्पन्न। श्रेष्ठ अनुवादक इस बाजार में झँकना मुनासिब नहीं समझते। वे अब उन्हीं पुस्तकों के अनुवाद में रुचि लेते हैं, जिनमें उनका मन रमता है, या जिसका सामाजिक सरोकार उन्हें उन्नत दिखता है, या किसी बेहतरीन पाठ के अनुवाद हेतु कोई संस्था उन्हें समुचित सम्मान एवं मानदेय देती है। भारत की सारी संस्थाएँ अनुबन्ध के समय सरकारी संस्थाओं द्वारा निर्धारित अनुवाद-शुल्क का अनुशरण करते हुए अनुवादकों का शोषण करने लगती हैं। सरकारी संस्थानों में अनुवाद-शुल्क निर्धारित करने वे लोग बैठते हैं, जिन्हें अनुवाद-कर्म के मर्म का ज्ञान नहीं होता। रोजगारहीनता के कारण इस क्षेत्र में कूद पड़े लोगों का परम-चरम धर्म तो धनार्जन होता है। उनकी सबसे बड़ी नैतिकता होती है पैसा पैसा किसी भी तरह बने, पर बने। रोजगार के आखेट में घूमते उन सिपाहियों से और अधिक की उम्मीद भी नहीं की जानी चाहिए। अब बचे पुनर्वीक्षक और सम्पादक उन्हें तो राय देकर अपना वर्चस्व बनाए रखना है, और अनूदित पाठ का सम्पादन पूरा कर अपनी नौकरी निपटा लेनी है। फिर प्रकाशक को अन्ततः किसी पर तो विश्वास करना होगा, वे इन अनुभवियों (?) की अनुशंसा को आर्ष-वाक्य मान कर आगे बढ़ जाते हैं। विक्रेताओं का तो सीधा सम्बन्ध बिक्री से है। अन्ततः इन सभी की सामाजिक दायित्वहीनता का शिकार वे पाठक होते हैं, जो अपनी ज्ञानाकुलता के कारण सारी क्षुद्रताओं का शिकार होते हैं। और, आहत होते हैं दूसरी भाषाओं के वे लेखक, जो हिन्दी की बड़ी दुनिया में आकर अपनी रचनात्मकता का अलख जगाने के यशःप्रार्थी हैं, और इस शृंखलाबद्ध दुष्कृत्य में उनकी सारी कामनाओं

पर अनुवादक की अज्ञानता की गाज गिर जाती है। सवाल है कि अनुवाद की दुनिया का यह घोटाला, विगत तीन दशकों से प्रचारित भारत के किसी बड़े घोटाले से छोटा है क्या? इस बौद्धिक छद्म से हमारे देश के उद्यमियों को बचने की जरूरत है।

हमारे देश के आज के अनुवादक अपने पूर्वज मनीषियों के एकनिष्ठ अनुवाद-प्रेम से प्रेरणा लें और वर्तमान राष्ट्रीय परिदृश्य में अनुवाद की महती भूमिका का आकलन करते हुए अपनी स्वदेशी निष्ठा को याद करें तो शायद वे भ्रष्ट अनुवाद करने की दुर्वृत्ति छोड़ दें। राष्ट्र के गरिमा-रक्षण में अनुवाद की भूमिका पर गम्भीरतापूर्वक विचार करना हर नागरिक का कर्तव्य होना चाहिए। वैश्विक स्पर्द्धा के मद्देनजर इसकी बड़ी जरूरत है। इसे राष्ट्रप्रेम की प्राथमिक पहचान के रूप में देख जाना चाहिए। ज्ञानात्मक क्षेत्र की असीम प्रतिस्पर्द्धा के कारण समृद्ध भारतीय चिन्तन-स्रोतों (think-tank) को और अधिक समृद्ध करने की आवश्यकता इक्कीसवीं सदी के प्रारम्भ में ही महसूस होने लगी। गहन-ज्ञान की दिशा में भारत को प्रतिस्पर्द्धा बनाने की बड़ी जरूरत हुई। ज्ञानात्मक उत्थान हेतु शैक्षिक एवं शोध संस्थानों का उदग्र विकास अनिवार्य लगने लगा। भारत को दुनिया भर की बौद्धिकता की चुनौतियों का सामना करना था। फलस्वरूप यहाँ अपने कामकाज को अधिक पारदर्शी बनाने की दिशा में नवीनतम तकनीक के अपने प्रयोगों को उन्नत करने की चिन्ता बढ़ी। भारत में 13 जून 2005 को राष्ट्रीय ज्ञान आयोग (National Knowledge Commission) का गठन इसी चिन्तन की परिणति है और इसआयोग के सुनिश्चित दायित्वों में अनुवाद-कर्म की गरिमा का प्रभूत संकेत है। शैक्षिक क्षेत्रों, अनुसन्धान प्रयोगशालाओं एवं बौद्धिक सम्पदा के विधानों में सुधार की सिफारिश करना इस आयोग का दायित्व सुनिश्चित हुआ दिसम्बर 2006 में आयोग ने प्रधानमन्त्री को राष्ट्रोत्थान हेतु पुस्तकालय, ज्ञान, ई-गवर्नेन्स, अनुवाद, विभिन्न भाषाओं, एवं भारत के राष्ट्रीय पोर्टल को प्रोन्नत करने की संस्तुति भी दी। गौर से देखने पर राष्ट्रोत्थान हेतु लक्षित इन सारे घटकों में अनुवाद एक धुरी की तरह दिखता है। जिम्मेदार अनुवादकीय दक्षता के बिना आज कोई भी राष्ट्र ज्ञानात्मक उत्थान की ओर कदम नहीं रख सकता, अपने चिन्तन-स्रोतों को समृद्ध नहीं कर सकता, शैक्षिक संस्थानों का उदग्र विकास नहीं कर सकता। लिहाजा वैश्विक स्पर्द्धा में डटकर खड़े होने के लिए अनुवाद अपरिहार्य है। इस समय अनुवाद-उद्यम राष्ट्रीय गरिमा का सबल स्तम्भ है। भारत जैसे बहुसांस्कृतिक और बहुभाषिक राष्ट्र। में 'अनेकता में एकता' का सूत्र अनुवाद ही स्थापित कर सकता है। धर्म के प्रचार, विचारों की यात्रा, राज-सत्ता के सफल संचालन, ज्ञान के विकास, सांस्कृतिक आदान-प्रदान, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध... मानव जीवन के हर प्रसंग की आधारभूमि के रूप में आज अनुवाद की ओर नजर जाती है। कहा जा चुका है कि मनुष्य जो कुछ मौलिक समझकर बोलता, करता या रचता है, वह सारा का सारा उसके चिन्तन एवं अनुभूतियों का भाषिक अथवा क्रियात्मक अनुवाद होता है। सभ्यता के विकास काल से ही विचार एवं वस्तु के विनिमय हेतु अनुवाद विभिन्न रूपों में मानव-जीवन का सहचर बना हुआ है।

आगे चलकर यह विनिमय/अनुवाद व्यापार का अंग बना; धर्म एवं मत के प्रचार, राज-सत्ता संचालन, ज्ञान के विकास-प्रचार, अन्तर्राष्ट्रीय कूटनीतिक सम्बन्ध... कई दिशाओं में इसकी अनिवार्य भागीदारी हुई। बीसवीं सदी के आते-आते तो यह मानव-जीवन के साँस-साँस आधार बन गया।

जर्मन कवि, उपन्यासकार, नाटककार, जोहान वोल्फगैंग वॉन गेटे (सन् 1749-1832) ने उन्नीसवीं सदी के शुरुआती दशकों में अपने कई निबन्धों में यूरोप में गैरपश्चिमी मूल की रचनाओं समेत साहित्यिक कृतियों के अन्तर्राष्ट्रीय संचार और स्वागत की व्याख्या हेतु विश्व-साहित्य की अवधारणा दी। अनुवाद के बिना तो इस विश्व-साहित्य की अवधारणा ही असम्भव थी। स्पष्टतः इसकी वैश्विक महत्ता सर्वमान्य थी। उनसे कई सदी पूर्व प्रसिद्ध भारतीय ग्रन्था 'पंचतन्त्र' के पहलवी, अरबी एवं फारसी अनुवाद तथा अन्य भारतीय ग्रन्थों के अनुवाद ने अनुवाद की वैश्विक उपादेयता साबित कर दी थी। सन् 1835 में गेटे के शिष्य जोहान पीटर एकरमन (Johann Peter Eckermann) ने गेटे के साथ बातचीत की एक पुस्तक प्रकाशित करवाई। उस प्रकाशन के बाद विश्व-साहित्य की अवधारणा को बड़ी ख्याति मिली। गेटे ने एकरमन से चीनी उपन्यासों, फारसी एवं सर्वियाई कविताओं के अपने अध्ययन के उत्साह और विदेशों में, खासकर फ्रांस में अपनी रचनाओं के अनुवाद एवं प्रसिद्धि से हुई प्रसन्नता के बारे में चर्चा भी की थी। जनवरी 1827 के एक प्रसिद्ध बयान में गेटे ने एकरमन से भविष्यवाणी की थी कि आने वाले वर्षों में साहित्यिक रचनात्मकता के मुख्य घटक के रूप में राष्ट्रीय साहित्य की जगह विश्व-साहित्य ले लेगा। उन्होंने कहा था कि - मैं पूरी तरह आश्चस्त हूँ कि कविता, खुद को एवं सैकड़ों-हजारों मनुष्यों को सर्वत्र और सर्वदा प्रकट करती हुई, मनुष्य जाति का सार्वभौमिक अधिकार है। इसीलिए मैं अपने कृतिकर्मों के बारे में अन्य राष्ट्रों की धारणा के प्रति उत्सुक रहता हूँ, औरों को भी ऐसा करने की सलाह देता हूँ। राष्ट्रीय साहित्य अब अर्थहीन पदबन्ध हो गया है; विश्व-साहित्य का समय आ चुका है, हर किसी को अब शीघ्रता से इसके दृष्टिकोण अपनाने का प्रयास करना चाहिए।

विश्व-साहित्य की गेटे की इस मौलिक अवधारणा के आलोक में सन् 1848 के कम्युनिस्ट पार्टी के घोषणा-पत्र में कार्ल मार्क्स और फ्रेडरिक एंगेल्स ने पूँजीवादी साहित्यिक मानस के महानगरीय चरित्र का वर्णन किया। फिर तो इस पर असंख्य धारणाओं से विचार होना शुरू हुआ।

गेटे की उद्घोषणा से अब तक के एक सौ नवासी वर्षों में कई राजनीतिक, व्यापारिक, आर्थिक, साहित्यिक, सांस्कृतिक उथल-पुथल विश्व स्तर पर हुए। ज्ञान की शाखाओं में कई महत्त्वपूर्ण मोड़ आए। तुलनात्मक साहित्य और अनुवाद अध्ययन जैसे स्वतन्त्र अनुशासन अस्तित्व में आए। इनमें विभिन्न स्तर की डिग्री, डिप्लोमा, प्रशिक्षण की व्यवस्था होने लगी।

विश्व-साहित्य की इस पुरजोर अवधारणा के बावजूद राष्ट्रीय साहित्य का मूल स्वाभाव कायम रहा। साम्राज्य विस्तार के शिकारियों

ने उपनिवेशों में जैसी हरकतें कीं, उनसे नागरिक मन में राष्ट्रीय स्तर पर भाषिक चेतना जाग्रत हुई। फलस्वरूप विश्व-साहित्य के साथ-साथ राष्ट्रीय और क्षेत्रीय साहित्य की गरिमा भी मुखर हुई। भारत जैसे विशाल लोकतन्त्र में इसका और भी महिमामय रूप देखा जा सकता है। जनपदीय भाषाओं में संचित-विकासमान नागरिक अस्मिता के सूत्रों की सुरक्षा के प्रति लोग चिन्तित हुए। भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम के दौरान हुए भाषाई एवं अनुवादकीय उपक्रमों में इस नागरिक-बोध का स्पष्ट परिचय मिलता है। स्वाधीनता आन्दोलन में भारतीय अनुवाद उद्यम के विलक्षण अवदान से कोई भी चिन्तनशील व्यक्ति इनकार नहीं कर सकता।

भारतीय चिन्तकों ने अनुवाद और मौलिक लेखन द्वारा अंग्रेजी नीति का मुँहतोड़ जवाब देने का जो कारगर उद्यम स्वाधीनता आन्दोलन के दौरान किया, उससे आम नागरिकों में अपनी अस्मिता के मसलों को लेकर भाषिक चेतना अत्यधिक प्रखर हुई। निजभाषा में जनरुचि का विकास हुआ। लेखन, अनुवाद, प्रकाशन, अध्यवसाय की दिशा में सक्रियता बढ़ी। भारत में आज के बहुभाषिक प्रकाशन एवं अनुवाद सम्बन्धी गतिविधियों में इनके महत्त्वपूर्ण योगदान देखे जा सकते हैं। कुछेक सरकारी एवं कई

स्वैच्छिक संस्थान इन दिनों यदि बहुभाषिक प्रकाशन द्वारा भारत की अखण्डता को सबल करने में अपना योगदान दे रहे हैं, तो इसका महत्तम श्रेय भारत की महिमामय अनुवाद परम्परा को जाता है।

पर अनुवादकों की उल्लिखित गैरजिम्मेदारी दुःखद है। धनलाभ की उग्र लिप्सा और कार्य-कौशल के प्रति पराङ्मुखता के कारण अनुवाद की बड़ी दुर्गति हो रही है। पुस्तकालयों के रैक्स अनूदित पुस्तकों से भरी रहती हैं, पर भ्रष्ट अनुवाद के कारण उस जंजाल में प्रवेश करते पाठक थक जाता है। ज्ञान थकाता नहीं, थकान मिटाता है। ये गैरजिम्मेदार अनुवादक नहीं जानते कि भारत जैसे बहुभाषिक राष्ट्र के नागरिकों के बीच खड़ी भाषाई अनभिज्ञता की दीवार पारस्परिक साहित्यिक अनुवाद के कारण ही ध्वस्त हुई है, क्षेत्र विशेष की भाषा जाने बगैर भी लोग वहाँ की साहित्यिक-सांस्कृतिक गरिमा नागरिक जीवन-पद्धति, एवं आचार-विचार की सूक्ष्मता जानने में कामयाब हुए हैं, इसलिए हम भी अपनी जिम्मेदारी निभाएँ। महान लक्ष्य की प्राप्ति हेतु उपयोगी अनुवाद-कर्म एक पवित्र यज्ञ है, अनुवादकों को भी इस यज्ञ में अपनी शुचिता और दायित्व का परिचय देना चाहिए, कार्य-कौशल न हो तो इस क्षेत्र से दूर रहना चाहिए।

संप्रेषणपरक व्याकरण और अनुवाद

शिवम शर्मा



संप्रेषण को भाषा अध्ययन का केंद्रबिंदु माना गया है, आजकल सामाजिक संबंधों की जटिलता तथा तकनीकी विकास के दबाव में संप्रेषण के तकनीकीकरण के कारण भाषा-व्यापार में संप्रेषण का महत्त्व बहुत अधिक बढ़ रहा है। भूमंडलीकरण ने संप्रेषण की अनिवार्यता को चरम पर पहुँचा दिया है। संप्रेषण का एक प्रमुख आधार अनुवाद भी है क्योंकि 'अनुवाद को संप्रेषण का विस्तार माना गया है।'

भारत आज विश्व में एक बड़े बाजार के रूप में उभर रहा है और भारत में संप्रेषण का सबसे सशक्त माध्यम 'हिंदी भाषा' है। अतः हिंदी अपने नये-नये संप्रेषणीय स्वरूप को ग्रहण कर रही है। अतः हिंदी भाषा के संप्रेषणीय स्वरूप का विश्लेषण करना भाषाविदों के लिए अनिवार्य हो गया है। हिंदी भाषा के सभी अनुप्रयुक्त संदर्भों, चाहे वह 'ज्ञान' का हो (मनोभाषा विज्ञान, समाजभाषा विज्ञान, 'विधा' का हो; शैली विज्ञान, कोश विज्ञान, वाक् चिकित्सा अनुवाद) या फिर भाषा-शिक्षण का सबसे संप्रेषणपरक व्याकरण की आवश्यकता प्रतीत हो रही है।

संप्रेषणपरक व्याकरण के क्षेत्र में अभी तक सबसे ज्यादा कार्य भाषा-शिक्षण के संदर्भ में हुआ है, जबकि अनुवाद का संदर्भ बिल्कुल अछूता रह गया है। पाश्चात्य विचारक डेलहाइम्स संप्रेषणपरक

व्याकरण के जन्मदाता माने जाते हैं। इनके अतिरिक्त याकोब्सन, एस. एल्वुड, लीच आदि ने भी इस क्षेत्र में कार्य किया है। लीच की पुस्तक 'A communicative Grammar of English' संप्रेषणपरक व्याकरण पर किसी भी भाषा की एक मात्र पुस्तक है, जो कि अंग्रेजी भाषा पर केंद्रित है। भारतीय संदर्भ में इस विषय में कार्य करने वालों में विद्यानिवास मिश्र, रवींद्रनाथ श्रीवास्तव, सुरेश कुमार, सूरजभान सिंह आदि का नाम उल्लेखनीय है। परंतु व्यवस्थित रूप से हिंदी के संप्रेषणपरक व्याकरण' पर कार्य नहीं हुआ। केंद्रीय हिंदी संस्थान ने इस दिशा में थोड़ा बहुत प्रयास किया और कुछ व्याख्यानों को पुस्तकाकार रूप में प्रकाशित भी किया। जिनमें 'संप्रेषण और संप्रेषणात्मक व्याकरण' (विद्यानिवास मिश्र) और 'संप्रेषणपरक व्याकरण : सिद्धांत और प्रारूप' (संपा. सुरेश कुमार) उल्लेखनीय है। अतः 'हिंदी के संप्रेषणपरक व्याकरण' के एक व्यवस्थित स्वरूप की आवश्यकता आज भी है।

अनुवाद संप्रेषण का विस्तार है और अनुवाद के प्रभावपरक प्रकार्य में माना गया है कि 'अनुवाद जितना अधिक संप्रेषणीय होगा उतना ही प्रभावशाली अर्थात् सफल होगा।' अतः अनुवाद के संदर्भ में संप्रेषणपरक व्याकरण सबसे ज्यादा उपयोगी सिद्ध होगा।

बद्रीनारायण



चिड़ियाँ रे

चिड़ियाँ रे!
चिड़ियाँ होने का अर्थ फाड़ दो
मछली रे
मछली होने का अर्थ काट दो
लड़की चिंदी-चिंदी कर दो
लड़की होने के अर्थ को

बकुल के फूल, बकुल के फूल होने के अर्थ को
अपने से थोड़ा अलग करो,
और कमल के फूल की रूप छवियों में
नाभियो! अपने लिए जगह माँगो,

पृथ्वी के नीचे फैली जड़ों,
पेड़ों के बिंब में अपने प्रति होने वाले
अयाय के खिलाफ रख दो माँगपत्र
पत्तियो! उठो और कहो
कि फूल के बनाने में तुम भी शामिल हो

सभ्यताओं के तत्त्वों सब मिलकर
सभ्यताओं का अर्थ ही बदल डालो,
रागों में पूरबी राग,
अपने लिए शास्त्रीय संगीत में जगह माँगो
और फुटनोटो! तुमसे मैं कहते-कहते थक गया,
कि उठो और धीरे-धीरे पहुँच जाओ
लेखों के बीच में।

प्रेमपत्र

प्रेत आयेगा
किताब से निकाल ले जायेगा प्रेमपत्र
गिद्ध उसे पहाड़ पर नोच-नोच खायेगा

चोर आयेगा तो प्रेमपत्र ही चुरायेगा
जुआरी प्रेमपत्र ही दाँव लगाएगा
ऋषि आयेंगे तो दान में माँगेंगे प्रेमपत्र

बारिश आयेगी तो
प्रेमपत्र ही गलायेगी
आग आयेंगी तो जलायेगी प्रेमपत्र
बंदिशें प्रेमपत्र पर ही लगाई जायेंगी

साँप आयेगा तो डसेगा प्रेमपत्र
झींगुर आयेंगे तो चाटेंगे प्रेमपत्र
कीड़े प्रेमपत्र ही काटेंगे।

प्रलय के दिनों में
'सप्तर्षि' मछली और मनु
सब वेद बचायेंगे
कोई नहीं बचायेगा प्रेमपत्र

कोई रोम बचायेगा
कोई मदीना
कोई चाँदी बचायेगा, कोई सोना

मैं निपट अकेला
कैसे बचाऊँगा तुम्हारा प्रेमपत्र

शब्दपदीयम्

मैं शब्द हूँ

शंकर के डमरू से निकला

और इधर-उधर बिखरा

न जाने कब कोई इन्द्र आये

और रात के तीसरे पहर

मुझी से

अहिल्या का दरवाजा खुलवाये

कोई चाँद पर फेंककर मारे मृगछाल

और मेरी ही आवाज़ आये,

गरदन में शराब का घट बाँधे

कब कोई सेनापति आये

और मुझी से गाँवों को जला देने के लिए

योद्धाओं में जोश जगाए

मैं शब्द हूँ इसलिए ब्रह्म हूँ

बीच जंगल में न जाने कोई व्याध

मुझी को सुन

सरवर तट पानी पीती हिरणी पर शब्दभेदी वाण चलाए,

कब कोई गवैया, कब कोई भाँट आए

और मुझी से किसी आततायी राजा का

इतिहास लिखवाए

मैं शब्द हूँ मैं नहीं चाहता

फिर किसी क्रौंच पंछी की कराह में बदलना

मैं शब्द हूँ

अजब कशमकश में पड़ा

कहीं मुझे ही सुन बाग में फूलों में बैठा तक्षक नाग

किसी चिड़िया को डसने में सफल न हो जाए

मैं जब भी हूँ पहले की ही तरह

अनन्त ऊर्जा से भरा

पर कत्थई रंग की तरह उदास

कि कहीं मेरे ही प्रयोग से कोई इस धरा को भस्म करने का

फिर से वरदान न पा जाए

मैं शब्द हूँ

कहीं मुझी से कोई मनुस्मृति

फिर न लिख दी जाए

कहीं मुझी से फिर न लिख दी जाएँ

इतिहास की दुर्दान्त घोषणाएँ

तानाशाहों की कहीं लिख न दी जाएँ

मुझी से आत्मकथाएँ

मैं शब्द हूँ

डरता हुआ

नगाड़ों की गड़गड़ आती आवाज़ के बीच

एक हिरण के मन की तरह

अनकता हुआ।

माँ का गीत

अगर तू सूर्य होता

तो दिनभर आसमान में जलता रहता

अगर तू चाँद होता

तो पूर्णिमा से एकम तक

तुझे रोज़-रोज़ कसाई के कत्ते से

कटना पड़ता।

अगर तू तारा होता मेरे लाल

तो मुझसे कितना दूर होता

अच्छा हुआ तू बद्रीनारायण हुआ।



आदत

गलत काम करते हैं जो
वे हकलाते हैं ताउम्र
गलतियाँ बार-बार पकड़ी जाती हैं उनके हकलाने पर
हकलाने की आदत नहीं होती जिनकी
गलत काम करने की जरूरत ही नहीं पड़ती उन्हें
और जिनकी आदत ही बन जाती है ऐसा करने की
बार-बार लौटते हैं अपनी हकलाने की पुरानी आदतों में वे।

स्वप्न की राह में कूड़ाघर

अपना देश जब विश्वगुरु बनने का सपना देख रहा हो
तब तुम कैसे गुरु हो कि उस सपने से दूर
अभी भी अपनी निकृष्टताओं के चरमोत्कर्ष में जीते हो
दुनिया में जो कुछ भी श्रेष्ठ है
उसे भूल
सबको गरियाते हुये
अपनी धन्य मनाते हो!!
तब तो इसका इल्म भी नहीं होगा आपको कि
कितनी बेसब्री से इंतजार कर रहा है
राष्ट्र का कूड़ाघर आपका
जब दुर्गाघ अधिक फैलने लगती है ऐसे लोगों से
तो खिसकने लगता है कूड़ाघर धीरे धीरे उनकी ओर
विश्व गुरु बनने के सपने की राह में है कूड़ाघर
और
गंदगी फैलाने के लिए ही पैदा हुये हैं आप जैसे लोग
तो एक राष्ट्र कर भी क्या सकता है
सिवाय इसमें जीने के
जिसकी नियति ही सफाई पसंद न हो!!

दृश्य अदृश्य

आजकल
सच को छिपाने का अभियान ज़ोरों पर है
इस अभियान के लाभार्थी
किसी भी सच को
झूठ में
किसी भी दुख को
सुख के पाठ में बदल देते हैं
जो ओझल सा कर देता है सच को
और दिखाई नहीं देता वह
पर सच अदृश्य होते हुये भी
दृश्य बना रहता है
हमारी आँखों के किसी कोने में
दृश्य-अदृश्य सबकुछ साफ साफ दिखाई देता है
नहीं दिखाई देता है तो
उसे बचाने का उपक्रम!!

तमीज़

मनुष्य और प्रकृति के रिश्ते से उपजी थी तमीज़
जो अन्य तमीज़ों को अपने आप निर्मित कर देती थी
गरीबी भी सिखाती है
तमीज़ जिंदगी की
पर समृद्धि से नहीं आती है तमीज़, और
ऐसी समृद्धि जो कुरूपता को जन्म दे
वह रिश्ता बना ही नहीं सकती
अपने परिवेश और मिट्टी से
तमीज़ कहीं से आती नहीं है
चलकर पहुँचना होता है उस तक
ठीक उसी तरह जैसे मनुष्यता कहीं से चलकर आती नहीं
उसतक पहुँचना होता है चलकर।

शिकायत

उन्होंने हमें बांटा
फिर स्वयं बटे हम
फिर दूसरों द्वारा बांटे जाने की शिकायत क्यों
जब हम स्वयं ही
विश्वास करते हैं बंटने में
तो बंटते रहेंगे आगे भी
कोई कर भी क्या सकता है
सिवाय सुनने और सुनाने के।

लायक

अपने-अपने हिसाब से लायक और नालायक होते हैं लोग
जो नालायक होते हैं
वे लायक नहीं, और
जो लायक होते हैं
वे नालायक नहीं
पाठ अनेक हो सकते हैं उनके
अपने हिसाब से लायक बन चुके हैं शासक
और शासित हो चुके हैं नालायक पर
सबसे बुरी बात नालायकों की तो यह है
कि
रह रह कर लायकों की सत्ता को चुनौती देते रहते हैं वे
शांति से नहीं रहने देते उन्हें
और लायक हैं कि -
इसके लिए युद्ध करते हैं उनसे
उनका मानना है कि
कैसे बन सकते हैं लायक सभी लोग
इसलिए
बनने नहीं देते सबको लायक वे!!

सोच की खुराक

मकरंद परांजपे



अकस्मात् आकाश अंधराया
तिलचट्टों का अंधड़
कोई अतिवृष्टि नहीं।
अपनी नवजात फसल की रक्षा के लिए
मैंने व्यर्थ ही अनेक लपटें जलाईं
जो कुछ हाथ आया, डाला उनमें।
धुएँ ने भगाये कुछ,
कुछ गिरे, कुछ मरे।
बाकी टूट पड़े
कई झुण्ड दिमाग को चाटने लगे।
बौराया हुआ मैं दौड़ रहा हूँ,
धरती पर तिलचट्टों को नंगे पैर कुचलते हुए
चिल्ला रहा हूँ, टीन के डिब्बों को पीटते हुए
भयंकर भक्षण से भटकाने के लिए।
जब भीतर अकाल पड़ेगा, हम पूरे भूखे नहीं मरेंगे
हम मृत शब्दों का टीला बनाकर
पकाएँगे।
कहते हैं, चावल और दाल के अभाव में ज़ायकेदार होते हैं।

बर्बादी की सैर

पुराने किले की दीवारें दरक गई हैं
पास में उजड़े हुए साम्राज्यों के अवशेष बिखरे पड़े हैं यहाँ-वहाँ।
टूटे हुए संगमरमर के फव्वारे के नजदीक
एक तन्हा-से कौए की, पंख चिथड़े हुए,
तरसती कराह यह था शाही हमाम :
किसी दूसरी जुबान में यहाँ से निकलती थीं खूबसूरत-सी ध्वनियाँ।
क़ैद सदियों के भीतर से, मलमल के परदों का खुलना;
आइने-से चमकते पत्थरों का चाहत भरे कदमों से सजना;
पानी की कलकलाहट में हँसी के बुदबुदों का घुल जाना...

काल से भूखी शाम जकड़ती है मुझे
अपने सूखे-अँधेरे पंजों में। एक बार फिर
ये बेचैन पतथ, परेशान पूर्वज,
कुछ अनजान इरादों से मेरी काया-प्रवेश करते हैं।

(साभार : हमारे समय का साहित्य)

यह, वह इतिहास तो नहीं

देवेन्द्र चौबे



मॉरिशस डायरी का यह पाठ 2010 में मॉरिशस प्रवास के दौरान लिखा गया। इस बीच लगातार वहाँ के लेखकों और अध्येताओं से बातचीत होती रही। इस दौरान डायरी की पाण्डुलिपि पुस्तकाकार रूप में तैयार हुई। इसी बीच वहाँ से कुछ लेखकों और छात्रों का जेएनयू भ्रमण एवं अध्ययन के सिलसिले में आना हुआ। वर्ष 2014 में भारत की साहित्य अकादमी ने वहाँ के प्रसिद्ध हिंदी लेखक अभिमन्यु अनंत को अपनी महत्तर सदस्यता प्रदान किया। इससे इस डायरी को समकालीन बनाने में मदद मिली। उन सबके प्रति आभार। यहाँ उद्धृत अंश अप्रकाशित डायरी के प्रारंभिक पाठों में से हैं। (ले.) -

आज सुबह नींद देर से खुली। देखा 6.45 बज गए हैं। रोज में ठीक 5.55 या 6 तक जग जाता हूँ। आज आसमान थोड़ा मटमैला था। रेडियो पर बार-बार घोषणा हो रही थी कि समुद्री तूफान दो सौ किलोमीटर की रफ्तार से रोडरिग्स की तरफ बढ़ रहा है। हवा भी तेज बह रही है। मूसलाधार बारिश हो सकती है... परंतु, 8 बजते-बजते आसमान साफ हो गया। फिर धूप ऐसी खिली जैसा अचानक धूप अंधेरा के बाद रोशनी की जोरदार लड़ियाँ धरती पर चारों ओर फैल गयी हों। मुझे जल्दी तैयार होना था क्योंकि इंडियन डायस्पोरा सेंटर का कार्यक्रम 9.45 से था। भोजपुरी विभाग के जय गणेश पाण्डेय मुझे लेकर जाने वाले थे। जय बहुत ही सरल और बालचित्त व्यक्ति हैं और जब तक साथ रहे छोटी-छोटी बातों का ख्याल रखा।

मातृदिवस के नाम पर इंडियन डायस्पोरा सेंटर का आयोजित कार्यक्रम पूरा राजनीतिक था। हवन और गायत्री मंत्र के उच्चारण के बाद राष्ट्रपति अनिरुद्ध जगन्नाथ के आने पर कार्यक्रम की शुरुआत हुई। मुझे लोक गायकों के गीत अच्छे लगे। कुछ-एक में राजनीतिज्ञों की महिमा का बखान था पर मुझे वह गीत अच्छा लगा जिसे मॉरीशस के मशहूर कलाकार ज्ञानमयी पनलाल ने गाया -

*पढ़िही लिखिह कउनो भाषा
बतियही भोजपुरी में... ..*

मॉरिशस के लोगों का मानना है कि इन कलाकारों और लोक गायकों ने यहां भोजपुरी को जीवित रखा है।

कार्यक्रम हिंदू हाउस में था, इसलिए भाषण भी जोरदार हुए। भाई रामधन के भाषण में आधा “चीनवा” शब्द मैं समझ नहीं पाया। वह कह रहे थे - “यह हिंदू हाउस सबके है। अब हमनी के का दुर्दशा हो गइल बा, ओकरा बारे में सोची जा। इ दिन रहल जब सब गाँव में का हिंदू का मुसलमान, का तमिल का मराठा अउरी उ चीनवा भी भोजपुरी बोलत रहलन जा। अऊरी आज? आज हमनी के आपन भाषा भूल गइल बानी जा। अब हमनी के आपन भाषा भोजपुरी में जमावे का बा !”

यानी कि “चीनवा” शब्द चीनी लोगों के लिए आया है। मूवमेंट सोशलिस्ट मारिशियन के नेता प्रवीण जगन्नाथ ने भी भोजपुरी स्पीकिंग यूनिन और संस्कृति स्पीकिंग यूनिन बिल की

चर्चा की कि जल्द पास होने वाला है। पर लेबर पार्टी के सांसद और संसदीय समितियों के अध्यक्ष सुरेन दयाल ने एक तरह से सबका मजाक उड़ाया - “हमनी के दुर्दशा के के जिम्मेदार बा ? एगो हम सच बात बोलिब। हमनी के भाषा के जउन दुर्गति हो रहल बा ओकरा खातिर हमनी के खुद जिम्मेदार बानी जा।” उन्होंने सवाल उठाया तथा जनता को संबोधित करते हुए पूछा कि “के तोहरा के मना करतबा कि भोजपुरी मत बोल? हिंदी मत बोल? बोल! जब तू खुदे ना बोलब त कइसे तहार भाषा के विकास होई? संस्कृति कैसे बाची? खुद सोच सब जा! विचार कर जा।”

उनके जोरदार भाषा का गहरा असर यह हुआ कि कार्यक्रम के आयोजक जगदीश गोवर्द्धन को सफाई देनी पड़ी कि ‘जब शिक्षा का माध्यम फ्रेंच और अंग्रेजी होगी तो कहां से बच्चे भोजपुरी सीखेंगे? हिंदी के साथ भोजपुरी को भी शिकार का माध्यम बनाया जाए।’

रामदेव धुरंधर और जीवित इतिहास

मॉरिशस के हिंदी लेखकों में रामदेव धुरंधर जी का नाम अभिमन्यु अनंत के बाद सबसे ऊपर है। उनसे मिलकर साहित्य अकादमी के पूर्व उपसचिव और अब जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में अनुवाद के प्राध्यापक रणजीत साहा की बात गलत साबित हो गई। उन्होंने एक “लालच” शब्द का प्रयोग किया था। वह मुझे कहीं दिखाई नहीं पड़ा। हाँ, उनके मन में भी एक पीड़ा है कि हिंदी के मुख्यधारा के प्रकाशकों और आलोचकों ने यहाँ के साहित्य को दोयम दर्जे का मानकर कभी उस पर व्यवस्थित तरीके से बात नहीं की।

यह एक गंभीर मामला है जिसपर गहराई से विचार करना जरूरी है। पोर्ट लुई से बस में आते हुए मैं बार-बार यही सोच रहा था कि उनसे क्या बात करूंगा। महज तो भी बात ध्यान में थी इसलिए अधिक खुलना भी नहीं चाहता था। लौटते समय वह सामने समुद्री किनारों के बारे में बताते जा रहे थे। बंधु आप यहीं इलोसेफ पिछली बार आये थे। इलो का मतलब टापू होता है। सेफ मानकर। वे गाड़ी चलाते हुए मुझे थोड़ा थोड़ा मॉरिशस का भूगोल समझाते जा रहे थे पर बार-बार मॉरीशस का हिंदी लेखन, भारत

का हिंदी बुद्धिजीवी समाज, समकालीन राजनीति आदि की बातें आ रही थीं। पर चाय पीते और समुद्र के किनारे धीमी बूँदा-बांदी में घूमते हुए मैं सहज हो गया था। एक तो मॉरीशस में अकादमिक जगत के फ्रेंच और अंग्रेजी का वर्चस्व। हिंदी के प्रति मुख्यधारा में कोई आकर्षण नहीं, पढ़ाई का माध्यम भी हिंदी नहीं। बोलचाल की भाषा में भोजपुरी या हिंदी की जगह क्रियोल का बढ़ता प्रभाव - यह सब मिलकर किसी भी उस लेखक को निराश करता है जो हिंदी में लिखने की ठानता है। कौन पढ़ेगा, हमारी कहानियाँ? कविताएँ, उपन्यास, नाटक, लघुकथा आदि आदि? हम किसके लिए लिख रहे हैं। कौन इसे प्रकाशित करेगा। बीच में कुछ ऐसे लोग आये जिन्होंने पुस्तकें प्रकाशित करने के नाम पर मॉरीशस के उभरते लेखकों को खूब ठगा। उनसे प्रकाशन के नाम पर पैसा लिया और उतने मूल्य की किताबें उन्हें दे दीं। सातवें आठवें दशक के 'सारिका', 'धर्मयुग', 'साप्ताहिक हिंदुस्तान' आदि ने उन्हें जो उभरने का मौका दिया था, वह भी 90 के बाद छिन गया। 'हंस' में उनके लिए कोई जगह नहीं है।

“सारिका, धर्मयुग से हमें बड़ा सहारा था”, धुरंधर जी बता रहे थे अनंत के 'लाल पसीना' को यदि 'सारिका' ने नहीं छपा होता तो वह कभी-भी राजकमल से नहीं आती! भारत में बड़े लेखक के रूप में नहीं जाने जाते।”

शायद वाकई अनंत जी की कोई किताब, बाद में राजकमल से नहीं आई। स्टार, डायमंड, नटराज जैसे प्रकाशकों ने लगभग सत्तर प्रतिशत मॉरीशस के लेखकों को छपा है। पर भारत में जितना प्रचार होना चाहिए उतना नहीं हुआ है। लगातार किसी अप्रवासी लेखक को पुरस्कार भी नहीं मिलता कि वह हमारी धारा में चर्चा का विषय बने। यह एक बड़ी पीड़ा है। रायल्टी के नाम पर हिंदी प्रकाशकों से सब वाकिफ हैं। जिस भाषा और लेखन से उनका घर नहीं चलने वाला है, फिर भी जिद्द है कि उसी में लिखेंगे - तब तो तकलीफ भुगतना ही है।

“बंधुवर 'पथरीला सोना' के प्रकाशन के लिए मैं परेशान था। हिंदी बुक सेंटर का मैं आभारी हूँ कि अनिल जी ने इसे साल भर के अंदर छाप दिया। पर हिंदी के किसी अखबार ने इसकी चर्चा नहीं की। कहीं समीक्षा आई, इसकी भी जानकारी नहीं। जब साहित्य अकादमी में एक संपादक को किताब देने गया तो वह पागलों की तरह व्यवहार करने लगा। कोई स्तर नहीं, फिर भी मोटे-मोटे उपन्यास आप सब लिखे जा रहे हैं। कौन पढ़ेगा? किसके पास फुर्सत है?”

इसके बाद एक लेखक के दिल पर क्या असर पड़ा होगा - उसका अनुमान आप लगाइए।

यहां के लेखकों को अभी भी इंतजार है ऐसे बड़े अदद प्रकाशकों की जो इनसे किताब मांगकर ले जाए, ससम्मान प्रकाशित करें, उस पर चर्चा कराये - क्योंकि ये हिंदी को ही तो बढ़ा रहे हैं। जिस तरह से स्त्री, दलित और आदिवासी साहित्य ने

पारंपरिक सौंदर्यबोध को नकारते हुए उत्पीड़ित समाज की मुश्किलों का बयान किया, ये लेखक भी तो अप्रवास की पीड़ा भोगते हुए भावनात्मक अलगाव का इतिहास रच रहे हैं। ये रहते मॉरीशस में हैं, याद भारत की करते हैं, उसकी संस्कृति की करते हैं, अभी तक उसे अपनाये और बचाये हुए हैं; फिर इनकी गलती क्या है? क्या यही इनकी गलती है कि मॉरीशस में रहते हुए ये उत्पीड़ित श्रमिक भारतीय समाज की जिंदगी का कच्चा इतिहास लिख रहे हैं? क्या इनपर हम उसी गंभीरता से बात नहीं कर सकते, जैसा कि दलित, स्त्री और आदिवासी लेखकों के 'हक' छीनकर मुख्यधारा के विचारकों को अपने ऊपर बात करने के लिए दबाव बनाया? ठीक है, ये भारत से सैकड़ों मील दूर है, उतना दबाव ये नहीं बना सकते; फिर भी हमारे ऊपर इनका एक अधिकार भी तो बनता है। ये हमारे ही तो समाज के एक टुकड़े हैं जो कभी अपनी आर्थिक मजबूरियों के चलते हमसे दूर चले गये और आज चाह कर वापस नहीं आ सकते।

शाम के अंधकार में धुरंधर जी के साथ कार से खाना खाकर लौटते हुए मैं इस प्रक्रिया में अपनी भूमिका तलाश रहा था। सड़क के दोनों ओर खड़े गन्ने के हरे पौधे मॉरीशस के उसी उत्पीड़ित समाज की तस्वीरें दिखला रहे थे जिसे अभिमन्यु अनंत ने 'लाल पसीना' में दिखाया है। सुंदर सड़कों पर दौड़ती हुई गाड़ियों को देखकर लग रहा था कि भारत के मजदूर भाइयों ने कितनी मुश्किलों से इस पथरीली जमीन को समतल और खेती लायक बनाया होगा। जिन पत्थरों पर हम सुगमता से चलते रहते हैं, उसे इन भाइयों ने ही तो अपनी उंगलियों से तराश कर उत्पीड़ित समाज का इतिहास लिखा है, राजधानी पोर्ट लुई की पथरीली सड़कों पर चलते हुए लगता है कि एक तरह से हम रास्ते पर नहीं जीवित इतिहास पर चल रहे होते हैं। जहाँ न जाने कितनी स्मृतियों का दर्द दफन है। सड़क के किनारे बिछाया गया एक-एक पत्थर एक-एक मजदूर के श्रम और उनकी इस आकांक्षा का प्रतीक लगता है कि एक दिन हमारे बच्चों इन्हीं पर चलकर स्कूल जायेंगे; सड़कों की तरह दतर में बैठकर फाइलों पर कलम चलायेंगे तथा उनकी भी गाड़ियां तेज रफ्तार से इन सड़कों पर दौड़ेंगी। आज जब मैं गुलशन मुखलाल, विनय गुदारी, रामदेव धुरंधर के साथ उनकी कारों में बैठकर यात्रा करता हूँ तो लगता है कि एक दृढ़ता उनके बाद कारों में शर्तबंद प्रथा के तहत मॉरीशस आये उन अनगिनत मजदूर भाइयों के सपने साकार हो गये हैं। उनके अंदर एक अजीब प्रकार के गर्व का भाव उठ रहा होगा कि हमने जो सोचकर मेहनत किया, धरती को सींचा आज उसका फल हमारी संतानों को मिल रहा है। धरती सोना उगल रही है, वह सोना तो उन्हें नहीं मिला जिसकी लालच में अंग्रेज एजेंट इन्हें यहां लाये थे कि पत्थर हटाओगे तो सोना निकलेगा, पर आज उनकी संपन्न जिंदगी को देखकर लगता है कि इस समाज ने अपना सोना पा लिया है और उनके चेहरे पर जो चमक और दमक है, कहीं-न-कहीं उनके पूर्वजों के ख्वाबों की हकीकत है।

आप्रवासी समाज की यात्रा और मॉरिशस का रंगमंच

आज सुबह मैं ज्योंकि नहा धोकर तैयार हुआ, किसी ने मेरे दरवाजे पर दस्तक दी। क्रीम कलर का सफारी सूट पहने, आँखों में उसी कलर का चश्मा, सिर पर हैट, पैर में जूता - पूरे टीप-टाप में मुस्कुराता हुआ एक चेहरा मेरे सामने खड़ा था। एकदम अप-टू-डेट !

“बलराम टकोरी जी ?” आज वही मुझसे मिलने आने वाले थे। मॉरिशस के रंगमंच के क्षेत्र में जाना पहचाना नाम है। पहले वे स्कूल के इंस्पेक्टर थे। अब रिटायर्ड होकर पूरा समय थियेटर में दे रहे हैं। उनकी अपनी एक थियेटर अकादमी है जिसकी ओर से वह प्रतिवर्ष दो तीन नाटकों को खुद लिखते और मंचित करते हैं। जापान के हिंदी प्रेमी और नाटककार टोमियो मिजोकामी हमारे मिलन के सूत्रधार थे। वह मॉरिशस टकोरी जी के निमंत्रण पर आ चुके हैं और उनकी नाट्य प्रस्तुतियों को मॉरिशस के निवासियों ने खूब सराहा था। उन्होंने बलराम टकोरी जी की तारीफ की थी, उन्हें सामने देखकर अच्छा लगा। विनय, गुलशन और डॉ. राज हीरामन के बाद वह पहले व्यक्ति थे, जो मेरे यहां आये थे- “आइए...”

“चौबे जी ?” उन्होंने कमरे में आते हुए कहा - आपको देखकर बहुत अच्छा लगा। फोन पर बात करके एक जिज्ञासा हुई थी कि कैसे होंगे आप! हम जरूर मिले।

“हाँ ...” मैंने कहा, “मिजाकामी जी ने आपकी तारीफ की थी।”

“उन्हें मैंने जापान से मॉरिशस बुलाया था। पूरी टीम के साथ आये थे। सारी व्यवस्था हमने की थी।” उन्होंने बताया, “यहां उनका शो भी अच्छा रहा। हमने कोई टिकट नहीं रखा ...” वह बता रहे थे, “सोचा था, सौ डेढ़ सौ लोग आयेंगे, पर देखते-देखते इंदिरा गांधी कला केंद्र का पूरा हाल भर गया। करीब छह सौ लोग थे।”

“अच्छा !” मुझे भी अच्छा लगा कि मॉरिशस में थियेटर के प्रति इतना उत्साह है।

“दरअसल, लोग यह देखने आये थे कि जापानी हिंदी तो बोल लेते होंगे - पर नाटक कैसे करेंगे ? पर लोगों ने खूब सराहा। अगले दिन अखबार के फ्रंट पेज पर उनकी खबर थी।”

“बहुत अच्छा !” अब हमलोग बात करने लगे थे - “आजकल आप क्या लिख रहे हैं?”

“एक नाटक का रिहर्सल चल रहा है। प्रधानमंत्री से मुख्य अतिथि के रूप में आने के लिए कहा है। 26 मार्च या 2 अप्रैल!”

“अगर 26 मार्च को तय हो जाता है तो मैं भी रहूंगा। मेरा वापसी का टिकट 27 मार्च का है।”

“ठीक रहेगा ! पर देखिए, वहां से कौन-सा डेट मिलता है।”

“इस नाटक में क्या दिखाने जा रहे है? कुछ अप्रवासी का भी मसला है?” मैंने अपनी दिलचस्पी जाहिर की।

“हाँ ! पूरा नाटक इन्हीं सवालियों पर है। मैंने प्राचीन से लेकर अबतक का इतिहास उठाया है कि कैसे अंग्रेज बिहार जैसे प्रांतों में एजेंट के रूप में मजदूरों की तलाश में जाते हैं। उन्हें प्रलोभन देते हैं कि मॉरिसस चलो ! पत्थर हटाओगे तो सोना मिलेगा ! उनकी यह बात सुनकर मजदूरों की आँखों में चमक आ जाती है और वह यहाँ आने को तैयार हो जाते हैं। कलकत्ता से उन्हें जहाज पर बिठाया जाता है।” वह बता रहे थे - “धूप, बरसात, तूफान हवा के बीच उनका सफर शुरू होता है। डेक पर उन्हें ठूस-ठूस कर रखा गया है। उसी में कई मजदूर बीमार पड़ जाते हैं। बीमारी फैलने का डर दिखाकर उन्हें समुद्र में फेंक दिया जाता है। महीनों की यात्रा के बाद जहाज मॉरिशस पहुंचता है।” थोड़ा रुके थे वे, “कुछ बातें मैंने सूत्रधार के रूप में कही हैं, यहां उतरते ही अब अंग्रेज का रूप दूसरा है। जो अंग्रेज बिहार, उड़ीसा में उनकी खुशामद कर रहे थे, यहां उन्हीं के हाथों में अब चाबुक है। एक-एक करके मजदूरों को उतारा जाता है। उनका एजेंट रजिस्ट्रेशन करने के लिए उनका नाम पूछता है -

“ऐ क्या नाम है, तुम्हारा?”

“डरा, सहमा हुआ कमजोर और बेबस मजदूर कहता है साहब कार्तिक।”

“काटिक?” अंग्रेज पूछता है, फिर लिखने वालों से कहता है - लिखो - काटक!”

“अब कार्तिक, यहां आकर काटक हो जाता है। उनके नाम बदल जाते हैं। उनकी पहचान सिमट जाती है फिर उन मजदूरों को धक्का देकर यहां के जमींदारों के हाथ में सौंप दिया जाता है। एक साथ आये मजदूर - भाई, पिता, पुत्र अलग अलग जमींदारों के साथ अलग-अलग इलाकों में भेज दिये जाते हैं। उनके रिश्ते टूट जाते हैं। वे बिछड़ जाते हैं।” वे थोड़ी देर के लिए ठहरते हैं।

“मतलब, वे एक नयी दुनिया में आकर खड़े हो जाते हैं, जहां उनके अपने भविष्य के नाम पर कुछ भी नहीं है!”

“हाँ, यहां के उनके उत्पीड़न का दूसरा दौर शुरू होता है। उनके काम का, खाने का, पानी पीने का समय तय होता है। उनको पत्थर हटाना पड़ता है, पर सोना नहीं मिलता है। श्रमिकों की आँखें सिकुड़ जाती हैं। वहां उन्होंने लालच दिया था कि सोना मिलेगा - उसी की आशा में दुःख तकलीफ सहते वह यहाँ आये थे। उन्हें सोना नहीं मिलता है। काम के बीच प्यास के लिए जब रुकते हैं तब पीठ पर कोड़ा पड़ता है। वे चीखते हैं, पर उनकी सुनने वाला कोई नहीं। शाम को थके हारे ये मजदूर जब अपने स्थान पर जाते हैं तो उनका सहारा बनता है हनुमान चालीसा, वे हनुमान जी से प्रार्थना करते हुए कहते हैं कि उन्हें संकट से उबार दो - तो इस प्रकार एक दौर समाप्त होता है। बाद में 1900 के आसपास गांधी आते हैं, इनके अंदर उत्साह भरते हैं कि अपने बच्चों को पढ़ाओ - उन्हीं में से एक मजदूर के अंदर यह बात घर कर जाती है। मोहित रामगुलाम अपने बच्चे को पढ़ाना चाहते हैं।

बाद में जब गांधी जी गुजराती वकील, मणिलाल डॉक्टर को शहर भेजते हैं तो इनके जीवन में आशा की धारा फूटती है। यहां से एक दूसरा दौर शुरू होता है, उन्हीं मोहित रामगुलाम का बेटा शिवसागर रामगुलाम पढ़कर आगे बढ़ता है और बाद में, 1935 में जब विलायत से डॉक्टरी पढ़कर वापस लौटता है तो मजदूरों की दशा और दिशा बदलने के लिए काम करता है। 1950 से लगातार वह उनकी आवाज उठाना शुरू करता है और जब 1968 में देश को अंग्रेजों से मुक्ति मिलती है तो प्रधानमंत्री बनता है। उन्हें जनता 'फादर ऑफ द नेशन' की उपाधि देती है। वह लोगों की हालत बदलने के लिए बहुत मेहनत करता है। उन्हें घर, बीमारी के लिए इलाज, नौकरी आदि उपलब्ध कराता है। आज (2010), के प्रधानमंत्री डॉ. नवीनचंद्र रामगुलाम उन्हीं के पुत्र हैं। यहां आकर नाटक समाप्त होता है।”

मैं सुनते-सुनते इतना मुग्ध हो गया था कि पता ही नहीं चला कैसे घण्टा भर बीत गया। मैंने उनसे आग्रह किया कि मुझे नाटक की स्क्रिप्ट उपलब्ध करवा दें कि उसे भी अपने प्रोजेक्ट का हिस्सा बना सकूँ। लौटते वक्त जब मैं उनके साथ पोर्ट लुई में स्थित नेशनल लायब्रेरी जा रहा था, तब उनसे ढेर सारी बातें हुईं। पोर्ट लुई का आज का इतिहास उन्होंने बताना शुरू किया - 'छह-सात बजे के बाद सबकुछ सुनसान हो जाता है। जब कि लोग रहते हैं। दुकानों के पीछे लोगों के घर हैं। उत्तर तरफ मुसलमानों की आबादी अधिक है। पर शहर शाम होते ही शांत हो जाता है।’

मोक्का और मॉरिशस का लोक इतिहास

आज मैं एम जी आई लायब्रेरी में काम करना चाहता था, इसलिए कहीं नहीं गया। यहां के प्रकाशन से कुछ पुस्तकें भी लेनी थीं, मुझे विजयलक्ष्मी तिलक की मॉरिशस हिस्ट्री अच्छी लगी थी। इस पुस्तक में उन्होंने शुरू से लेकर आधुनिक काल के मॉरिशस का इतिहास प्रस्तुत किया है। उनकी पुस्तक की तारीफ पिछली बार विनयी गुदारी ने किया था। पुस्तक थोड़ी मंहगी थी, भारतीय हिसाब से करीब 900 रुपये। मेरे पास पैसे भी अब समाप्त हो रहे थे। फेलोशिप 15 मार्च के पहले नहीं आयेगी, इसलिए इसी में मुझे काम चलाना था, पर किताब अच्छी है, इसलिए ले लिया।

आज लंच के बाद विनयी और संध्या विश्वविद्यालय चले गये। गुलशन की भी क्लास थी। साथ में रह गये अरविंद बिस्सर और जय गणेश पाण्डेय। दोनों भोजपुरी विभाग में कार्यरत हैं। वहां पहले सुचिता रामदीन थी। अरविंद उत्साही है। मॉरिशस ब्रांड कास्टिंग कारपोरेशन में भी पार्ट-टाइम कार्य करते हैं। रेडियो एफ.एम. पर उनकी प्रस्तुति बहुत आकर्षक है। पिछली बार उन्होंने हमें भोजपुरी गाने के कैसेट दिये थे जिसे हम बार-बार सुनते हैं। वापसी में उनसे ढेर सारी बातें हुईं। चाय पीने के बहाने हम भोजपुरी विभाग में आ गये।

यहां का भोजपुरी विभाग 5 बाई 10 फीट के कमरे में है। पहले यह अध्यक्ष का कमरा हुआ करता था, उनके, सुचिता

रामदीन के रिटायर्ड होने के बाद पूरा विभाग इसी कमरे में स्थानांतरित कर दिया गया। सदस्यों को बैठने वाले कमरे को रजिस्ट्रार के लिए आरक्षित कर दिया गया है। इससे इन दोनों युवा अध्यापकों के चेहरे पर निराशा के भाव देखे जा सकते हैं। पर उनके अंदर के उत्साह ने मुझे आकर्षित किया।

“हमसे कहा जाता है कि यह करो, वह करो !” अरविंद थोड़ा नाराज भी लग रहे थे, “कैसे करें? सामग्री संकलन के लिए समाधान तक नहीं है। एमबीसी की रिकार्डिंग सेट के आधार पर मैं डाटा कलेक्शन कर रहा हूँ। पहले टेप में होता था, अब हम सीडी में कर रहे हैं। पहले तो यहां छात्रों के लिए कोई प्रोग्राम तक नहीं था। हमने इन्ट्रोडक्शन टू भोजपुरी कोर्सेस विश्वविद्यालय के छात्रों के लिए शुरू किया। यह आप्शनल है। इसमें लोग आते हैं। इससे भोजपुरी का प्रचार भी हो रहा है।”

“डाटा कलेक्शन में आप क्या करते हैं?” मैंने पूछा, क्योंकि 21.2. के इंडिया डायस्पोरा सेंटर के कार्यक्रम में जयगणेश पाण्डेय ने बताया था कि अब बस पुराने लोगों में असली भोजपुरी बची हुई है। वे ब्लॉग्स जो भोजपुरी में जाते हैं, धीरे धीरे लुप्त हो रहे हैं। उन सबके जाने के बाद इस परंपरा को आगे ले जाने वाला कोई नहीं है।

“हम पुराने लोगों से बात करके उनके रीति-रिवाज, अनुभव आदि को रिकार्ड करते हैं। अब जैसे एकबार एक महिला ने बताया कि उसका कम उम्र में विवाह हो गया था। उसकी सास उससे काम कराना चाहती थी, जबकि ससुर कहता कि अभी खेलने कूदने की उम्र है। जब वह अपने उम्र के लोगों के साथ खेलती तो लोग कहते देखो, फलाना की बहु खेल रही है। गांव में चर्चा होती। एक दिन उसकी सास ने कहा कि जाओ ‘हंसुआ’ लाओ। इस नाम से वह परिचित नहीं थी। उसके यहां इसे कुछ और नाम से पुकारते थे। वह अंदर जाकर परेशान हो गई। इस पर सास ने कहा कि यह भी नहीं पता है? उसे खूब डांटा-फटकारा। उस दिन वह बहुत रोई। कुछ वर्ष बाद उसके सास-ससुर गुजर गये। अब वह खुद घर की मालकिन हो गई, अब उसे खुद खेत में जाना था। जब पहली बार हंसुआ लेकर खेत में गई तो काम शुरू करने के पहले, ‘हंसुआ’ देखकर फिर रोने लगी कि तुम्हारे चलते एक दिन मैं रोई थी, अब तो तुम मेरे अन्नदाता हो गये हो?”

अरविंद ने बताया कि ऐसा इनके लोककथाएँ लुप्त हो रही हैं। हम इनका संकलन करते हैं।

“प्रकाशन क्यों नहीं करते?” मुझे जिज्ञासा हुई, “ऐसी किताबें कहां मिलेंगी?”

“नहीं हैं। प्रह्लाद रामशरण ने कुछ संकलित किया है, पर वह हिंदी में हैं। शायद दिल्ली के राजपाल प्रकाशन ने उसे प्रकाशित किया है। मैं उनका अनुवाद भोजपुरी में करना चाहता हूँ।” अरविंद ने कहा।

“अनुवाद क्यों करना चाहते हैं?” मैंने कहा, “खुद संकलित करके लिखिए। जो नहीं मिले, उसे साभार ले लीजिए।”

अरविंद सोचने लगे। फिर उनके चेहरे पर एक चमक दीखी, “हाँ, यह तो अच्छा है। फिर उनका प्रकाशन भी हम भोजपुरी में करेंगे...”

“हाँ !”

अरविंद पीएच.डी. करना चाहते हैं। कुछ ऐसा विषय लेना चाहते हैं जिसमें उनका एमबीसी का काम भी चलता रहे।

दरअसल मॉरिशस में स्त्रियों का संसार इतना बड़ा है कि उन पर असंख्य काम हो सकते हैं। अरविंद से बातचीत करके लगा कि लोककथाओं के माध्यम से स्त्रियाँ एक नये संसार को रचती और बनाती हैं। उन परंपराओं को जीवित रखती हैं जिससे उनका अपना समाज गतिशील रहे। जहाँ पर हर वस्तु के लिए उचित स्थान और सम्मान हो। हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनेक निबंधों में लोक के इसी रूप को बचाने की चिंता दिखलाई पड़ती है। लेखक की यह भूमिका भी होती है कि वह लोक के मौजूद उन चीजों को संरक्षित करे, जिसको समाज धीरे-धीरे भूलता जा रहा है। अरविंद संकलन के नाम पर यह महत्वपूर्ण कार्य कर रहे हैं। मैंने उन्हें सलाह दी कि ऐसे ही विषय को लेकर काम करें। साथ ही, मॉरिशस के भोजपुरी भाषा और साहित्य का एक इतिहास लिखने का प्रयास करें। वह उत्साही और समझदार हैं। ऐसा कर सकते हैं। उन्हें देखकर लग रहा था कि वे और उन जैसे युवक ही मॉरिशस के भोजपुरी भाषा और साहित्य का भविष्य हैं; जैसे गुलशन सुखलाल और विनयी गुदारी हिंदी के। इन युवा प्राध्यापकों में काम करने और काम को समझने का अतिरिक्त उत्साह है। शायद इसलिए हम सब एक-दूसरे से जुड़ते जा रहे हैं।

एमजीआई के भाषा संस्थान में

आज एमजीआई के हिंदी के छात्रों को साहित्य के इतिहास पर व्याख्यान देकर जितना खुशी हुई, उतनी ही निराशा, उनसे संवाद न हो पाने के कारण हुई। कुछ छात्रों ने कोशिश की, पर बात ठीक-ठाक नहीं बन पाई। वे सवाल नहीं थे और न ही टिप्पणियाँ। इसलिए उनसे विदा लेकर जब विभागाध्यक्ष राजरानी गोविन से ये बातें शेयर की, तब उन्होंने बताया कि प्रथम वर्ष तो ठीक है, परंतु दूसरे वर्ष के साथ दिक्कत है। लड़के मेहनत नहीं कर रहे हैं।

“मैंने तो एक लड़की को झाड़ा कि तुम्हारे माता-पिता मछली की फैक्ट्री में काम करते हैं और बहुत मुश्किल से पैसा इकट्ठा करते हैं। क्यों, उनके पैसे को बर्बाद कर रही हो?” उन्होंने कहा, “उसके बाद उस पर थोड़ा असर हुआ और उसने कक्षा में आना शुरू किया।”

यद्यपि यह सच है कि छात्र मेहनत नहीं कर रहे हैं, पर कारण क्या है? यहाँ लड़के-लड़कियाँ हिंदी पढ़ने आते हैं, पर घर में भोजपुरी या क्रियोल बोलते हैं। माता-पिता से उसी भाषा में बातें होती हैं। हिंदी एक तरह से उनके लिए विदेशी भाषा की तरह हो

जाती है। इंटर कॉलेज तक उनकी जड़ मजबूत नहीं हो पाती है। वे क्या करें? घर के बाहर का माहौल भी हिंदी लायक नहीं है। संस्थान के अलावा उन्हें हिंदी में बातचीत करने का मौका कम ही मिल पाता है।

कक्षा में मेरे साथ हिंदी के अध्यापक लाल बिहारी जी बैठे रहे। वे सज्जन व्यक्ति हैं। उन्होंने छात्रों से मेरा परिचय कराया। उनकी दिलचस्पी भाषा विज्ञान में है। बनारस से पढ़ाई करने के बाद उन्होंने लंबे समय तक प्राइमरी, कक्षाओं में पढ़ाया और मेहनत, लगन से महात्मा गांधी संस्थान में लेक्चरर बन गये। उनके व्यक्तित्व में कोई दुराग्रह नहीं है। बल्कि, उनके साथ थोड़ी देर के लिए बैठी हिंदी की ही अध्यापक रघुनंदन जी भिन्न विचार वाली लगी। यद्यपि चाय उन्होंने अच्छी पिलाई।

आज दिन में संस्थान की एक और बैठक में भाग लेने का मौका मिला। उन दिनों तमिलनाडु के एक मंत्री मॉरिशस की यात्रा पर आये थे। इसीलिए उनको लेकर संस्थान के अध्यक्ष और निदेशक की तरफ से हाल में एक कार्यक्रम था। कार्यक्रम में लोगों में कोई उत्साह नहीं दिख रहा था। ऊपर से मंत्री महोदय ने तमिल में बोला। अनुवाद की प्रस्तुति भी अधूरी थी, किसी को कुछ समझ में नहीं आ रहा था। वहाँ गर्मी भी बहुत थी। दो बजने जा रहा था। बच्चे भागने को व्याकुल थे और इधर मंत्री महोदय का भाषण था कि समाप्त ही नहीं हो रहा था। 2.30 बजते-बजते छात्रों का पलायन शुरू हो गया। परंतु, कुछ लोग आखिर तक बैठे रहे। गुलशन और विनयी की कक्षाएँ थी, इसीलिए वे सब भी 3 बजते-बजते चले गये। मैंने विनयी से कहा कि जब आप एम जी आई के निदेशक बनेंगे तब ऐसे ही बोर करेंगे। उसने आँखें फैलाकर मेरी तरफ देखा, फिर कहा - “ऐसा नहीं होगा!”

पर, वहाँ एक व्यक्ति से मिलकर मुझे अधिक खुशी हुई। वहाँ के एम.पी. और संसद के मुखर वक्ता श्री सुरेन्द्र दयाल जी जो कि मंत्री के साथ आये थे। आज बोले तो नहीं, परंतु बहुत ही ओजस्वी वक्ता हैं। लेबर पार्टी से हैं जिसकी आजकल सरकार है। उनसे थोड़ी देर तक बातचीत हुई। उन्होंने मुझे अपना कार्ड और व्यक्तिगत नंबर दिया। मुझे लगता है ऐसे लोग राजनीति में आये तो देश आगे जाता है। वे देश के भविष्य हैं आज जिस तरह की राजनीति हो रही है, उसमें व्यक्ति की प्रतिबद्धता देश और समाज के प्रति कम, अन्य चीजों में अधिक होती जा है। इससे देश कमजोर होता है। समाज भी। परिणामतः व्यवस्थाएं चरमराने लगती हैं। परंतु सुरेंद्र दयाल जी अलग तरह के नेता हैं। देश के बारे में सोचते हैं। वे अगर इसी तरह काम करते रहे तो उनका देश और आगे जायेगा। तरक्की करेगा।

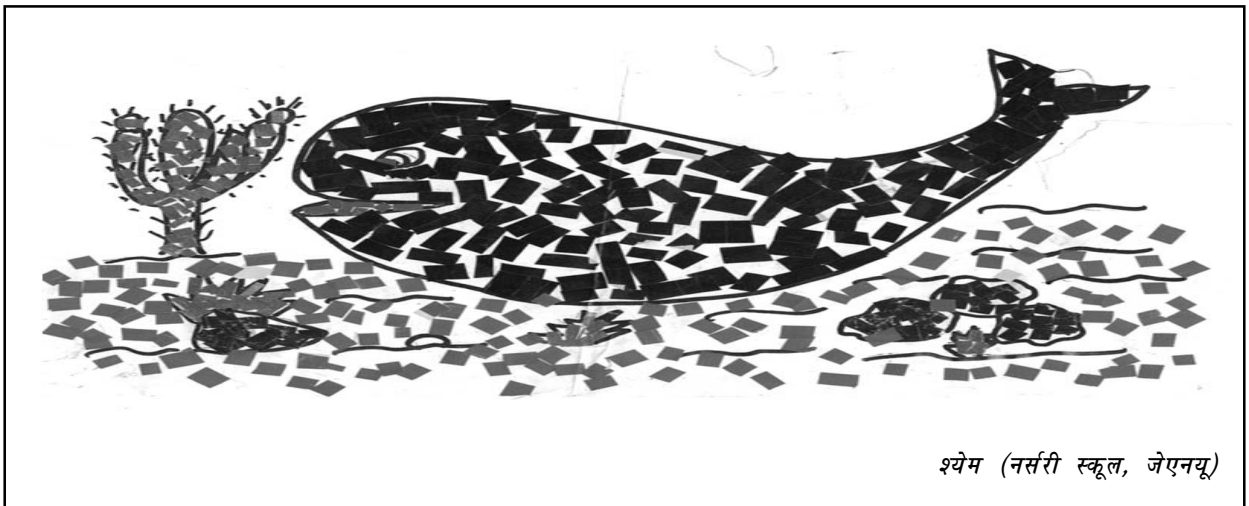
मन किया, उसे दूर तक जाते देखता रहूँ, पर सामने इतनी तेज धूप थी कि आँखों ने साथ छोड़ दिया। पर, तेज धूप से बचना संभव नहीं था। लौटती बार आँखों पर शाम की तीखी धूप पड़ रही थी, इसीलिए आसमान की तरफ देखा ही नहीं! परंतु ज्योंही

संस्थान के पास का पेट्रोल पंप आया, निगाहें ऊपर उठ गईं। नीले आसमान में कई जगह सफेद बादलों के टुकड़े स्थिर खड़े, ध्यानमग्न थे। उनमें कोई हलचल नहीं थी। जब संस्थान के करीब पहुँचा तो अचानक आसमान में अद्भुत दृश्य नजर आया। सफेद बादल टापुओं की तरह हल्का लाल-पीला हो गये थे। लेकिन उनकी बनावट ठीक टापुओं जैसी ही थी, उनके बगल में खड़ा नीला आसमान, ठीक समुद्र की तरह लग रहा था। लग रहा था कि आसमान से समुद्र धरती पर उतर रहा है! अद्भुत दृश्य!! मन-ही-मन प्रार्थना की कि आसमान में काले बादल न आयें, पर संयोगवश ऐसा हो नहीं पाया। धीरे-धीरे आसमान काले बादलों से घिर गया। यह मॉरिसस के लिए सामान्य बात है, कब धूप हो जाए और कब बरसात - इसकी भविष्यवाणी सिर्फ प्रकृति ही कर सकती है; यहां का मौसम विभाग नहीं। पर संकट करीब आ पहुँचा था। बरसात कभी भी हो सकती थी। और संस्थान के गेस्ट हाऊस तक पहुँचना जरूरी था। शायद इस जैसे देश की जनता इसी बात का इंतजार करती है कि कब संकट हो, और कब उससे मुक्ति मिले। कहा जा सकता है कि यह देश इन चीजों का अभ्यस्त हो गया है। इसीलिए लोग बहुत चीजों को गंभीरता से नहीं लेते। मस्त रहते हैं। घर से दफ्तर, दफ्तर से घर और फिर ढेर सारी व्यस्तताएँ! क्रिया-कलाप!

व्यस्तता यहां के लोगों में गजब की है। इसका कारण क्या है, यह कभी समझ नहीं पाया। मंदिर यहां की सामाजिक गतिशीलता के केंद्र हैं। ऐसा नहीं कि लोग भारत की तरह अंधभक्त हैं या पूरा का पूरा ईश्वरवादी! मंदिर जाना यहाँ के लोगों के लिए एक दायित्व की तरह है कि उससे जुड़े रहे। भारत से आये पुजारियों पर ये अटूट श्रद्धा रखते हैं। उनकी संस्कृत वाणी इन्हें धर्ममय बनाती है। इसीलिए ऐसे पंडितों को दान भी खूब मिलता है, जो बढ़िया से

संस्कृत बोल सकें। इनके यहां भक्त भी खूब इकट्ठा होते हैं। कुछ दिन उन्होंने निर्धारित कर रखे हैं जैसे - मंगलवार को हनुमान जी की पूजा, सोमवार को शिवमूर्ति का महाभिषेक, रविवार या बृहस्पतिवार को सत्यनारायण कथा आदि। यहाँ आयोजक चाहे व्यक्ति हो या मंदिर, भक्तों को प्रसाद खाना की तरह भरपेट मिलता है। हां, कोई-न-कोई उसका प्रायोजक होता है। इसीलिए मंदिर से जुड़े कार्यक्रम में देश के बड़े-बड़े नेता, मंत्री, यहाँ तक कि राष्ट्रपति-प्रधानमंत्री भी आते हैं। इससे उनका जनता से संपर्क बना रहता है और लोग वहाँ सीधे अपनी बात उनसे कह पाते हैं। यह अच्छी बात है कि उनके आने पर सुरक्षा को लेकर आम जनता को कोई परेशानी नहीं होती। आप आराम से उनके आने के बाद आइए और उनके जाने के पहले कोई जरूरी काम है तो निकल जाइए। उनके सुरक्षाकर्मी मुश्किल से एक या दो होते हैं। वे भी दूर-दूर खड़े रहते हैं। इसीलिए जब भारत से कोई मंत्री आता है तो उन्हें थोड़ा अजीब लगता है। हाँ, उनकी यात्रा में जरूर लाइंग स्क्वायड बाइक पर आगे-आगे जाते हैं और पीछे-पीछे मंत्री की गाड़ी। परंतु, इससे आम लोगों को परेशानी नहीं होती। किसी को रोका भी नहीं जाता है। यह एक ऐसी खूबी है जिसने मुझे मॉरिसस में बार-बार आकर्षित किया। शायद हर देश का समय और समाज अपनी सामाजिक गतिशीलता के अनुरूप कार्यशीली ढूँढ लेता है। मॉरीशस ने भी ऐसा ढूँढ लिया है। इसीलिए यहाँ का जीवन और लोग अत्यंत सरल है।

संपर्क : भारतीय भाषा केंद्र, जनेवि



श्येम (नर्सरी स्कूल, जेएनयू)

हमारी श्रीनगर यात्रा

पवन कुमार



यह वर्ष 2015 मई के महीने की बात है जब दिल्ली में खूब उमस भरी गर्मी पड़ रही थी। मुझे मेरे साथी श्री दलबीर सिंह रावत के साथ जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय की प्रवेश-परीक्षा सम्पन्न कराने हेतु श्रीनगर (कश्मीर) जाने का मौका मिला। श्रीनगर जाने से पहले हमारे दिमाग में तरह-तरह के विचार आ रहे थे जैसे कि मौजूदा समय में आतंकियों का डर और दूसरी तरफ हमने यह भी सुना हुआ था कि अगर पृथ्वी पर कहीं स्वर्ग है तो वह सिर्फ कश्मीर में है वगैरह-वगैरह।

हमने कश्मीर की यात्रा दिल्ली से श्रीनगर तक हवाई जहाज द्वारा की। जैसे-जैसे हमारा जहाज श्रीनगर की ओर नजदीक आ रहा था हमने हवाई यात्रा के दौरान ही ऊपर से कश्मीर की बर्फीली पहाड़ियों का सुन्दर मनमोहक नजारा देखा मानों पर्वतों ने सफेद चादर ओढ़ ली है। कुछ देर बाद ही हम श्रीनगर एयरपोर्ट पर पहुँच गये और बाहर की तरफ आकर अपने होटल के लिये टैक्सी का इन्तजार करने लगे। संयोग से हमारे पास दो युवक आये और पूछने लगे कि आपको कहाँ जाना है। हमने उनको बताया कि हम जेएनयू की प्रवेश परीक्षा के संबंध में आये हैं और एक अच्छे से शान्तिप्रिय जगह पर होटल की तलाश में हैं। इस पर वे दोनों युवक मुस्कराये और कहने लगे कि सर हम भी कश्मीर में विद्यार्थी हैं और आप लोग हमारी गाड़ी में बैठ जाइये और हम आपको अच्छी व शान्तिप्रिय जगह पर ले जायेंगे और वहाँ पर आपको होटल भी पसन्द आ जायेगा। हम लोग उन्हीं की गाड़ी में बैठ गये और रास्ते में बातों ही बातों में हमारा उनके साथ दोस्ताना रिश्ता भी कायम हो गया और करीब एक घन्टे के बाद हम लोग डल झील के समीप आ गये और उन्होंने कहा कि सर यहाँ पर आपको काफी सकून भी मिलेगा और यहाँ पर होटल भी बहुत अच्छे हैं। हमें पूरा विश्वास है कि आप लोग यहाँ पर खूब एंज्वाय करेंगे। फिर दोनों युवक जो अपने आपको कश्मीरी बतला रहे थे हमें वहाँ छोड़कर चले गये और साथ में जाते समय यह कहते हुए अपना मोबाइल नम्बर भी दे गए कि कोई आवश्यकता पड़े तो फोन करना हम तुरन्त पहुँच जाएंगे।

हमने अपनी सुविधानुसार वहाँ पर होटल के कमरे किराये पर ले लिये और फिर हम लोग फ्रेश होकर जब गप-शप करने के लिए बैठे तो हम यह सोचने लगे कि हमने तो कश्मीर व कश्मीरियों के बारे में बहुत कुछ सुना था कि

यह लोग बाहरी लोगों को काफी परेशान करते हैं और हमेशा बीच में धर्म की दीवार आती है। लेकिन यह दो कश्मीरी युवक जो हमको श्रीनगर एयरपोर्ट से यहां तक टैक्सी द्वारा लाये और रास्ते में इतनी सारी प्यार भरी बातें की और हमको यहां शान्तिप्रिय व स्वच्छ स्थान पर लाये और ढेर सारी होटल के बारे में जानकारियाँ दीं, यही नहीं जाते समय अपना मोबाइल नम्बर भी दे गये। यह सब देखने व महसूस करने के बाद हम दोनों सोचने लगे जब इनमें यहां दूसरों के लिए इतना प्यार व सम्मान है तो हमारे बीच में दूरियाँ बांटने वाले कौन लोग हैं जो नफरत और मजहब की दीवार बीच में खड़ी करते रहते हैं।

फिर अगले दिन हमलोग कश्मीर के दर्शनीय स्थल देखने के लिये निकले और सर्वप्रथम हम लोग 'ट्युलिप गार्डन' में गये जहाँ पर ट्युलिप के फूलों की बहार आई हुई थी, ऐसा लग रहा था मानो ट्युलिप फूलों की चादर सी बिछी हुई है जो कश्मीर की सुन्दरता में चार-चाँद लगाने में कोई कसर नहीं छोड़ रही थी।

हमारा अगला पड़ाव मुगलगार्डन था। मुगलगार्डन जाने पर एहसास हुआ कि मानों स्वर्ग इसी जमीन पर उतर आया है। लम्बे-लम्बे पानी के फव्वारे मन को मोह रहे थे। इसके बाद हम शालीमार बाग व चश्मेशाही पर पहुँचे तो यहाँ की सुन्दर प्रकृति की सारी सुन्दर खूबियाँ स्वर्ग के दूसरे हिस्से के रूप में नज़र आ रही थी।

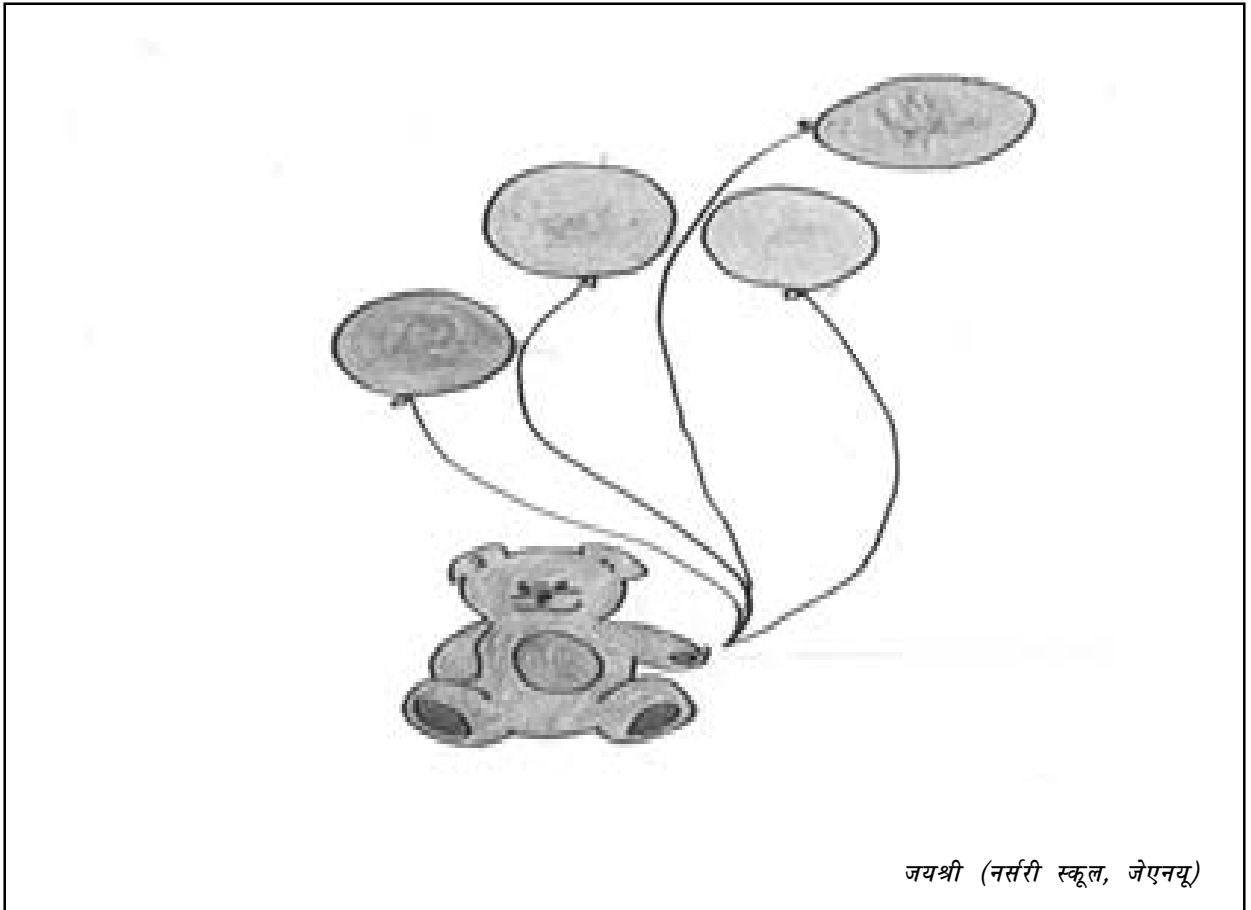
इतने रमणीय स्थल देखने के बाद जब हम वापस अपने होटल की ओर डल झील पर आये तो वहाँ का नजारा देखने लायक था! जगह-जगह टूरिस्ट अपने परिवार के साथ मौजमस्ती में शिकारे का आनन्द ले रहे थे। पूरी डल झील पर्यटकों के शिकारे से भरी हुई थी, डल झील के किनारे भी पर्यटकों से भरे पड़े थे जो यहाँ की सुन्दरता में और चार-चाँद लगा रहा थे। रात में डल झील पर तारों का प्रतिबिम्ब इस तरह झिलमिला रहा था मानों डल झील पर पूरा आसमान उतर आया हो। डल झील का खुशनुमा नज़ारा ले ही रहे थे कि इसी बीच डॉ. देवेन्द्र चौबे जोकि जेएनयू की प्रवेश परीक्षा के सम्बन्ध में श्री नगर आये हुए थे वह भी हमारे साथ शामिल हो गये। डॉ. साहब के आने पर हम दोनों बहुत खुश हुए क्योंकि डॉ. साहब बहुत ही मिलनसार हैं और हमेशा मुस्कराते रहते हैं यह बात कोई भी अनजान शख्स

उनके चेहरे को पहली ही बार देखकर बता सकता है। आखिर हमने डल झील की सैर करने के लिए एक शिकारा किराये पर लिया और शिकारे पर बैठ कर डल झील की सैर पर निकल पड़े। शिकारा चलाने वाला व्यक्ति भी बहुत हंसमुख व बातूनी था। पूरे एक-डेढ़ घंटे तक शिकारे वाला डल झील की खूबियां और पर्यटकों के बारे में बताता रहा। जब हम डल झील में घूम रहे थे तो हमने देखा कि वहाँ के छोटे-मोटे कश्मीरी व्यापारी अपना सामान नाव में रखकर डल झील में आये हुए शैलानियों को बेच रहे थे ऐसा नजारा न हमने पहले कभी देखा था और न ही कल्पना की थी। यह नजारा हमारे लिए कोई चमत्कार से कम नहीं था और इसके अलावा एक और बात हमारे सामने आई वह यह थी कि डल झील में लकड़ी की बनी हुई मार्किट भी है जिससे शिकारे में झील का आनन्द लेते हुए घूमते-घूमते छोटी से छोटी व महंगी से महंगी चीजें खरीद सकते हैं। अगर आपको शिकारे में चाय-पानी चाहिए तो वह भी आपको आसानी से मिल जायेगी।

फिर अन्त में एक दिन हम लोग गुलमर्ग देखने के लिए निकले और जब हम गुलमर्ग पहुँचे तो चारों ओर जमीन व

पहाड़ पर बर्फ ही बर्फ नज़र आ रही थी। यहाँ पर हमने एक दूसरे पर बर्फ के गोले बनाकर फेंके तथा बर्फ और ठण्ड का आनन्द लिया। इस तरह का दृश्य केवल हमने हिन्दी फिल्मों में ही देखा था, यहाँ आकर यह सपना भी साकार हो गया।

अन्त में हम लोग अपने विश्वविद्यालय दिल्ली वापस आ गये और फिर तपस, गर्मी, धूप तथा लू भरी आँधी-तूफान का सामना करना पड़ा। अब हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे की यदि धरती पर कहीं स्वर्ग है तो वह कश्मीर है, जहाँ प्रकृति का सौन्दर्य पहाड़ी घाटियों, झीलों, सुन्दर-सुन्दर वृक्षों, केसर और फूलों की क्यारियों के बीच बिखरा पड़ा है। अगर सभी कश्मीरी निवासियों का पर्यटकों के साथ सदा प्यार-व्यवहार जैसे हम लोगों को मिला था मिले तो शायद ही कश्मीर छोड़ने की इच्छा किसी की हो। हम सबके साथ तो मजबूरी थी हम ड्यूटी पर थे वापस आना ही था। अंत में मैं यही कहना चाहूँगा कि इस सुहाने अवसर की यात्रा सदैव हमारे दिल में रची-बसी रहेगी जिसे हमारे लिए भुलाना असंभव होगा।



जयश्री (नर्सरी स्कूल, जेएनयू)

राष्ट्रभाषा का प्रश्न

गणपत तेली



एक बहुभाषी देश होने के कारण भारत में भाषा का मुद्दा राजनीतिक हल्कों में हमेशा विवादास्पद रहा है। भारत में अंग्रेजों के आगमन और उनके द्वारा स्थापित राजनीतिक और प्रशासनिक व्यवस्थाओं के साथ-साथ आधुनिक राज्य और राष्ट्र जैसी अवधारणाओं के आगमन के साथ ही भाषा का मुद्दा एक व्यापक विवाद में आया। यद्यपि राष्ट्रभाषा के संदर्भ में यह विवाद 1936 के बाद जोर पकड़ता है, लेकिन इसकी मूल पृष्ठभूमि में लंबा विवाद रहा है। यह विवाद नागरी लिपि और फ़ारसी लिपि के विवाद के रूप में प्रारंभ हुआ था, जो आगे के दौर में भाषा का विवाद बना हिन्दी-उर्दू विवाद, जब राष्ट्रभाषा के संदर्भ में ढलने लगा, तब इसमें भारत की अन्य भाषाओं का संदर्भ आया और अन्य भाषाएं इस विवाद का हिस्सा बनने लगीं। भारत में हुए इन भाषा विवादों का प्रारंभ अंग्रेजी शासन द्वारा प्रशासन की स्थापना के बाद हुआ। फोर्ट विलियम कॉलेज तथा भारतेंदु युग और द्विवेदी युग में हुए भाषा संबंधी विमर्शों में इस विवाद की पृष्ठभूमि दिखाई देती है। औपनिवेशिक भारत के आखिरी दौर में जब राजनैतिक घटनाक्रम तेजी से विकसित होने लगा, इस विकास ने भाषा-विवाद को भी तीव्र किया। फोर्ट विलियम कॉलेज की गतिविधियों से भाषा संबंधी एक नया क्षेत्र ही खुल गया था। हिन्दी-उर्दू जैसी भाषाओं को राजनीतिक अस्मिता प्राप्त होने लगी।

भारत भाषा के स्तर पर बहुत विविधतायुक्त और बहुभाषा-भाषी देश है। यहां पर हजार से ज्यादा मातृभाषाएं बोली जाती हैं। यहां तक कि ये भाषाएं अलग-अलग भाषा परिवारों से संबंध रखती हैं। यहां पर विभिन्न स्तरों की भाषाएं मिल जायेंगी, जिनमें कुछ बहुत विकसित, साहित्यिक विरासत और लंबे इतिहास वाली भाषाएं हैं, तो दूसरी तरफ कई सारी केवल बोलियां हैं, जिनकी अपनी लिपि भी नहीं है। बहुत सी भाषाएं ऐसी हैं, जिन्हें बहुत बड़े समुदाय द्वारा बोला जाता है और उनका भौगोलिक दायरा बहुत फैला हुआ है तो दूसरी तरफ ऐसी भाषाएं भी हैं, जो छोटे क्षेत्र में बहुत कम लोगों द्वारा बोली जाती हैं। यहाँ तक कि भारत की आजादी के बाद संविधान द्वारा संविधान की आठवीं अनुसूची में 15 भाषाओं को मान्यता दी गई थी, जो अब तक 24 हो गई हैं। जाहिर सी बात है कि ये 24 भाषाएं भी सभी भारतीयों की भाषाओं का प्रतिनिधित्व नहीं करती हैं। भारत में अलग-अलग भाषा-परिवारों की भाषाएं बोली जाती हैं। भारत में बोली जाने वाली भाषाओं को मुख्यतः चार भाषा-परिवारों में वर्गीकृत किया गया है- 1. भारोपीय परिवार की इण्डो आर्यन शाखा, 2. द्रविड़ भाषा परिवार, 3. चीनी-तिब्बती और, 4. ऑस्ट्रिक भाषा परिवार। इण्डो-आर्य परिवार की भाषाएं भारत में सबसे ज्यादा बोली जाती हैं और दूसरा

स्थान द्रविड़ भाषा परिवार का है। इन चारों परिवारों की विविध भाषाएं देश की बहुरंगी फिजा को अभिव्यक्त करती हैं। लिपियों के क्षेत्र में भी यही स्थिति है, हालाँकि भाषा की तुलना में लिपियों की विविधता कम है।

भाषा को प्रायः राष्ट्र की अभिव्यक्ति का सशक्त प्रतीक माना जाता है। इसलिए जब भाषा विवाद नौकरियों और अन्य आर्थिक लाभों तक सीमित था, उस समय भारत में राष्ट्र की अवधारणा मजबूत नहीं थी और अंग्रेज शासक भारत में राष्ट्रीयता के अभाव को नकार रहे थे। लेकिन जब भारत में राष्ट्रवादी राजनीति प्रारंभ हो गई थी, तो भाषा का प्रश्न भी राष्ट्रभाषा के साथ जुड़ गया। अब नौकरियों और आर्थिक लाभों के विवाद पर सम्मान और पदवी का आवरण आ गया था। भाषा के साथ लिपि का प्रश्न भी जुड़ा हुआ था। हिन्दी-उर्दू विवाद का तो मूल ही लिपि विवाद था। भारत में भाषा और लिपि के इन विवादों के अलावा एक ही भाषा के अंतर्गत भी कई विवाद हुए जैसे कि डाइग्लोसिया रूप के विवाद।

आज भारत में भाषा अन्य व्यावहारिक क्षेत्रों में एक समस्या हो सकती है, लेकिन राज्य के लिए यह अब उस तरह की चुनौती नहीं रही। आजादी के ठीक बाद के दशकों में समस्या का सामना करना पड़ा था, खासतौर से दक्षिण भारत के प्रांतों में। यह समस्या हिन्दी को एक मात्र भाषा बनाये जाने की कोशिशों के कारण पैदा हुई। लेकिन अब मोटा-मोटी समस्या उतनी नहीं रही है। इसके अलावा मराठी के नाम पर महाराष्ट्र में बार-बार स्वर उठता रहता है (यह स्थिति अन्य प्रांतों में भी हो सकती है), लेकिन आज मराठी का मामला उस रूप में भाषा का मामला नहीं है क्योंकि यह शिवसेना और महाराष्ट्र नवनिर्माण सेना जैसे संगठन अपने स्वार्थपूर्ति के लिए इस्तेमाल करते हैं। भाषा के आधार पर कुछ मांगे समय-समय पर होती हैं, लेकिन वो भी भारतीय राज्य को चुनौती देने वाली नहीं होती है। वैसे आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार तो उस समय भी भारत की भाषात्मक स्थिति भारत में राष्ट्रवाद के विकास में बाधक नहीं थी। उन्होंने लिखा है कि “मैंने विदेशी भाषाओं के जानकारों और विदेश के नाना देशों में भ्रमण कर चुकने वाले कई विद्वानों से सुना है कि तथाकथित एक-राष्ट्र व स्वाधीन देशों में भी दर्जनों भाषाएं हैं और भारतवर्ष की भाषा समस्या उनकी तुलना में नगण्य है (द्विवेदी, 2006, 9)।”

जब उपनिवेशवादी व्यवस्था अपने लिए शासन चला रही थी, वह भारत की जनता के प्रति उत्तरदायी नहीं थी। आजादी के बाद बनने वाली सरकार को भाषा का मुद्दा सुलझाना था। इसलिए आजादी से पहले 1937 के चुनावों के बाद भी कई प्रांतों में कांग्रेस

की सरकारें बनीं, तब भी उनके सामने भाषा का मुद्दा आया था। इस दिशा में बिहार में महत्त्वपूर्ण कदम उठाकर एक हिंदुस्तानी कमिटी बनाई गई। इस कमिटी ने हिंदुस्तानी के शब्दकोश, पाठ्यपुस्तक और हिंदुस्तानी का व्याकरण आदि का बनाने का कार्य किया, इस कमिटी को उर्दू और हिन्दी - दोनों के समर्थकों का विरोध झेलना पड़ा (प्रसाद, 2007, 771-72)। इस परियोजना के बाद इस दिशा में आगे नहीं बढ़ा गया।

एक राष्ट्र कहलाने और राष्ट्रीय एकता के आग्रह में किसी एक भाषा को राष्ट्रीय भाषा बनाने का एजेण्डा भारत में भी रहा है। स्वाधीनता आंदोलन के प्रारंभ के समय से ही जहां उत्तर भारत में हिन्दी-उर्दू का विवाद शुरू हुआ। वहीं अन्य प्रांतों की प्रांतीय भाषा-भाषियों में भी यह आग्रह रहा। एक बहुराष्ट्रीय देश होने के कारण भारत में भाषा के स्तर पर गहरी विभिन्नताएं हैं। आज जिस भू-भाग को भारत देश के तौर पर जाना जाता है, उसमें हिन्दी, उर्दू, बांग्ला, उत्तर-पूर्व की भाषाएं, तमिल, तेलगू, कन्नड़, मलयालम आदि ऐसी भाषाएं हैं, जिनके स्वरूप में बड़ा फर्क है।

स्वाधीनता आंदोलन के समय में अंग्रेजों द्वारा अक्सर यह तर्क दिया जाता था कि भारत में इतनी विविधताएं हैं कि यह एक राष्ट्र नहीं हो सकता। इसके लिए उन्होंने '222 अलग-अलग भाषाओं' का तर्क भी दिया (पाम दत्त, 1977)। इन परिस्थितियों में भारत को एक राष्ट्र के रूप में पहचान दिलाने और राष्ट्रीय एकता को मजबूत करने के लिए एक राष्ट्रभाषा का मुद्दा उठा। इस प्रसंग में हिन्दी-उर्दू में तो विवाद चल ही रहा था, साथ ही एक बड़ी समस्या दक्षिण भारत में बोली जाने वाली तमिल, तेलगू, कन्नड़, मलयालम भाषाओं के साथ उत्तर भारत की भाषाओं में भी टकराव चल रहा था।

भारत की इस भाषा-समस्या के समाधान के बहुत सारे प्रयास हुए। महात्मा गांधी ने हिन्दी और उर्दू की समस्या का समाधान प्रस्तुत करते हुए उत्तर भारत के हिन्दुओं और मुसलमानों द्वारा बोली जाने वाली आम बोलचाल की भाषा हिन्दुस्तानी का प्रस्ताव किया। महात्मा गांधी के इस प्रयास को कांग्रेस की आधिकारिक भाषा नीति के रूप में स्थान मिला था। लेकिन राष्ट्रभाषा की इस अवधारणा में दक्षिण भारत ही नहीं, पूर्वी और पूर्वोत्तर भारत का अधिकांश हिस्सा छुट रहा था। इस उद्देश्य पूर्ति के लिए उन्होंने दक्षिण भारत और पूर्वोत्तर में हिन्दी प्रचार सभा और हिन्दुस्तानी प्रचार सभा आदि संस्थाओं के जरिए प्रचार भी किया। ये संस्थाएँ हिन्दी-हिन्दुस्तानी की समर्थक थीं।

दूसरी तरफ उस समय हिन्दी की अधिकांश पत्रिकाओं में संस्कृतनिष्ठ हिन्दी का पुरजोर समर्थन मिलता है। 1939 की

'सरस्वती' में पं. वेंकटेश नारायण तिवारी ने 'एक भाषा के कण-कण से विदेशीपन टपकता है, तो दूसरी रग-रग में भारतीय है' कहते हुए गांधी जी की भाषा नीति पर प्रहार किया कि यह 'हिंदुस्तानी की ओट में उर्दू का प्रचार' करना है। यहां तक की जो लोग आजादी के संघर्ष से जुड़े तमाम मुद्दों पर गांधी का समर्थन करते थे, वे भी उनकी भाषा नीति से असहमत और उनसे खफा थे। इस संबंध में एक बात यह भी उभर कर सामने आती है कि भाषा के मुद्दे पर हिन्दी की शुद्धता का आग्रह विवाद का एक कारण था। गांधी जी द्वारा प्रस्तावित लिपि का पं. वेंकटेश नारायण तिवारी, चन्द्रबली पाण्डेय आदि ने पवित्रता के आधार पर विरोध किया। 'हिन्दी' और 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' में भी इस आग्रह के लेख छपे हैं। नागरी लिपि और हिन्दी भाषा के विकास और प्रचार के उद्देश्य से स्थापित नागरी प्रचारिणी सभा इस क्षेत्र में बहुत सक्रिय थी। मदन मोहन मालवीय और पुरुषोत्तम दास टंडन के नेतृत्व में लोग कांग्रेस के मंच से शुद्ध हिन्दी की वकालत कर रहे थे। इसी तरह के गुट उर्दू भाषा की भी पैरवी कर रहे थे। इन सब गुटों द्वारा की गई भाषा की राजनीति ने एक-दूसरी भाषाओं को आमने-सामने खड़ी कर दिया।

उस समय सरकारी कामकाज की भाषा अंग्रेजी थी। अंग्रेजों की समर्थित भाषा होने के कारण अंग्रेजों के विरोध के साथ-साथ अंग्रेजी का विरोध भी हुआ। हालांकि एक तबका ऐसा था जो अंग्रेजी का पक्षधर था। आमतौर पर आजादी के बाद दक्षिण भारत के राज्यों ने अंग्रेजी का समर्थन किया था, लेकिन वह हिन्दी लादने के विरोध में किया था। गांधी को अंग्रेजी के अकादमिक रूप से समस्या नहीं थी। वे इसे ज्ञान की वाहक भाषा मानते थे और इसका महत्त्व भी स्वीकार करते थे, लेकिन इसे भारत की राष्ट्र भाषा मानने के खिलाफ थे। सेठ गोविन्ददास ने भी कहा था कि "यदि अंग्रेजी ही संयुक्त भारत की भाषा बनने वाली है, तो मुझे यह कहना पड़ता है कि यह संयुक्त भारत एक अराष्ट्रीय भारत होगा।" अंग्रेजों से संबद्ध होने के कारण स्थानीय लोगों की भावनाएं अंग्रेजी के खिलाफ थीं इसलिए भी लोग अंग्रेजी का विरोध करते थे, लेकिन यह सच है कि अंग्रेजी को भारत की राष्ट्रभाषा या संपर्क भाषा नहीं बनाया जा सकता था क्योंकि अंग्रेजी को तो बहुत ही कम लोग जानते थे, यहाँ तक कि अधिकांश साक्षर लोग भी अंग्रेजी नहीं जानते थे। इस परिस्थिति में अंग्रेजी को राष्ट्रभाषा नहीं बनाया जाना ठीक नहीं होता। जाहिर है कि भारत में राष्ट्रभाषा का मुद्दा जटिल था, राजनीतिक दृष्टि से इसे सुलझाना उतना आसान भी नहीं था। संभवतः इसी कारण से आज भी भारत में भाषिक क्षेत्र में उठते विवादों में इस पृष्ठभूमि महत्त्वपूर्ण भूमिका रहती है।

स्त्री संगठन एवं समितियाँ और स्त्री प्रश्न (‘स्त्रीदर्पण’ के संदर्भ में)

मीनाक्षी



भारतीय नवजागरण का आरंभ 1857 की क्रांति से हुआ। भारतीय स्त्रियाँ 1857 की क्रांति में भाग लेकर अपनी योग्यता दिखा चुकी थी। हालाँकि इस क्रांति के बाद उन्हें किसी से आगे बढ़ने की प्रेरणा लेने की आवश्यकता नहीं थी। वह अपनी मसीहा स्वयं बन सकती थीं। यह भारतीय पुरुषों की राजनीति का परिणाम है कि स्त्रियों की दशा सुधारने की पहल इनके द्वारा हुई। यह पुरुषवादी आंदोलन 19वीं शताब्दी के आरंभ से लेकर 19वीं शताब्दी के अंत तक जारी रहा। इस आंदोलन ने स्त्री जीवन को प्रभावित करने वाली कुरीतियों बाल-विवाह, स्त्री अशिक्षा, पर्दा प्रथा, विधवा अविवाह का विरोध किया। उस समय स्त्रियों में अपने अधिकारों के प्रति चेतना लगभग लुप्त थी। इस कारण पुरुषों द्वारा अपने जीवन संबंधी निर्णय कभी गलत नहीं लगे। 19वीं शताब्दी में स्त्री सुधार के लिए भारतीय पुरुषों के व्यवहार में अचानक परिवर्तन का कारण इन शब्दों से प्रकट होता है - “यही तो विडंबना है! स्त्रियों को क्या चाहिए, यह भी पुरुष ही तय करते हैं! 19वीं शताब्दी के पुरुषों को शिक्षित स्त्रियाँ इसलिए चाहिए थीं कि उस समय एक नया वर्ग बन रहा था, जिसके लिए एक नये ढंग की स्त्री की जरूरत थी। यह अंग्रेजी शिक्षा पाया हुआ अभिजन वर्ग था। इस वर्ग के पुरुष ऐसी स्त्री चाहते थे, जा घर में बच्चों को नये ढंग से पाले और बाहर ‘सोसायटी’ में या ‘सोशल लाइफ’ में पति के साथ निकल सके। वे अंग्रेजी उपन्यास पढ़ते थे और उनकी ‘हीरोइनों’ को अपने आसपास देखना चाहते थे। वे बुद्धिजीवी थे और उन्हें ऐसी स्त्री की बड़ी जबर्दस्त चाह थी, जो उनकी बौद्धिक सहगामिनी हो। इसके लिए उन्हें स्त्रियों को शिक्षित करना जरूरी लग रहा था और इसी के लिए वे गार्गी, मैत्रेयी आदि के उदाहरण सामने रखकर स्त्री-शिक्षा पर जोर दे रहे थे। लेकिन गार्गी की कहानी बताते हुए वे यह नहीं बता रहे थे कि उस जमाने में भी स्त्री पढ़-लिखकर कोई प्रश्न उठाती थी, तो उसे चुप कर दिया जाता था।”¹ लिहाजा 19वीं शताब्दी के पुरुष सुधारकों का स्त्री सुधार आंदोलन कहीं-कहीं स्त्रियोंद्वारा आंदोलन कहा गया क्योंकि ‘उद्धार हमेशा कोई बाहर से करता है जबकि स्त्रियों की दृष्टि में सवाल उनके अधिकारों का था न कि उद्धार का’²

प्रारंभ में स्त्री सुधार आंदोलन का नेतृत्व करने वाले अधिकतर पुरुष थे। जब तक स्त्रियाँ स्वयं नेतृत्व सँभालने के पूर्णतः शारीरिक और मानसिक रूप से तैयार नहीं हुई तब तक इन पुरुषों ने नेतृत्व सँभाले रखा। उन्होंने स्त्री जीवन सुधार के लिए विभिन्न संगठनों एवं संस्थाओं का निर्माण किया। उन संगठनों में राजा राममोहन राय का ‘ब्रह्म समाज’ (1828), महादेव रानाडे का ‘प्रार्थना समाज’ (1867), स्वामी दयानंद सरस्वती का ‘आर्य समाज’ (1875) और

एनी बेसेंट की ‘थियोसोफिकल सोसायटी’ का नाम सर्वोपरि में लिया जाता है। इनके अतिरिक्त 19वीं शताब्दी में कुछ पुरुष प्रेरक स्त्री संगठन ‘महिला समाज’ (1882), भारत महिला परिषद् (1887), स्त्री जरथोस्टी मंडल (1896) विशेष उल्लेखनीय है। इन संस्थाओं द्वारा चलाए गए आंदोलनों ने भारतीय समाज को प्रभावित किया। प्रायः सभी संगठन गृहस्थ जीवन की प्रारंभिक तैयारी पर केंद्रित थे। ज्यादा से ज्यादा स्त्रियों को शिक्षण-प्रशिक्षण द्वारा आवास परस्त बनाते थे। पुरुष समाज के दोहरे मानदंडों ने स्त्रियों की अधीनता और अपमान को इतना तीव्र कर दिया कि ‘स्त्रियाँ’ स्त्री आंदोलन का हिस्सा बने बगैर नहीं रह सकी। आशारानी व्होरा ने नवजागरणकाल के पूर्वार्द्ध की प्रमुख नेत्रियों शारदा देवी, रमाबाई रानाडे, भगिनी निवेदिता को इन संस्थाओं की देन कहा है। क्योंकि इन स्त्रियों ने पुरुष समाज की सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, धार्मिक रणनीतियों, मूल्यों, आदर्शों, मर्यादाओं, मानदंडों से परे अपनी समस्याओं, आवश्यकताओं एवं समाधानों को समाज के सामने रखा। अपने प्रयत्नों से स्वायत्त स्त्री संगठनों का गठन किया। कहना न होगा कि स्त्रियों की वास्तविक आवश्यकताएँ एवं समस्याएँ उनकी अपनी स्वायत्त संस्थाओं के बनाने के उपरांत ही सामने आ पाईं।

इस प्रकार भारत में स्त्री आंदोलन का आरंभ 19वीं शताब्दी के अंतिम दशकों में पंडिता रमाबाई, रमाबाई रानाडे, आनंदीबाई जोशी, रुक्माबाई जैसी स्त्रियों द्वारा सामाजिक प्रतिबंधनों को तोड़ते हुए हुई। पहली बार भारतीय समाज को स्वायत्त स्त्री संगठन एवं संस्थाएँ प्रदान की गईं। स्त्री संबंधी समस्याओं एवं उनके समाधान हेतु अखिल भारतीय स्त्री संगठन के गठन को विचारा जाने लगा। इससे स्त्री मुक्ति आंदोलन को गति मिली। राधा कुमार भारतीय स्त्री संगठनों पर दृष्टि डालते हुए लिखते हैं - “सन् 1910-1920 का दशक ऐसा दशक था जिसमें सर्वप्रथम अखिल भारतीय महिला संगठनों के गठन के प्रयास किए गए। जैसा कि हम देख चुके हैं, महिलाओं के प्रारंभिक संगठन शहरी तथा संप्रदायवादी थे और आलोचना की दृष्टि से अनुकूल थे क्योंकि वे आर्यसमाजी या ब्राह्मणवादी थे। उन्नीसवीं सदी के आखिरी तथा बीसवीं सदी के शुरुआती सालों में बंगाल में बंग महिला समाज एवं अघोरीकामिनी नारी समिति, महाराष्ट्र में सतारा अबलोननति सभा, बंगलूर में महिला सेवा समाज, बनारस में भारत महिला परिषद् तथा इलाहाबाद में प्रयाग समिति जैसे स्थानीय एवं क्षेत्रीय संगठनों ने अखिल भारतीय संगठनों का समर्थन किया। इनमें से कुछ कार्यशील समाज सुधार संगठन थे जबकि अन्य दूसरे संगठन स्त्रियों की

चर्चा के मंच मात्र थे।³ इसी क्रम में 19वीं शताब्दी के अंतिम दशकों को लेकर 20वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक की क्रमानुसार संस्थाओं में सखी समिति (स्वर्णकुमारी, बम्बई, 1886), भारत स्त्री मंडल (सरलादेवी चौधरानी, 1910), शारदा सदन (पंडिता रमाबाई, पूना, 1892), हिंदू लेडीज सोशल एण्ड लिटरेरी क्लब एवं सेवा सदन (रमाबाई रानाडे, पूना, 1902), महिला समिति (सुमिति देवी, कलकत्ता, 1905), गुजराती स्त्री मण्डल (अहमदाबाद, 1909), महिला सेवा समाज (मैसूर, 1913), भगिनी (पूना, 1916), वूमेंस इंडियन एसोसिएशन (एनी बेसेंट, मार्ग्रेट कजिन्स और डोराथी जिनारदासा, 1917), नेशनल काउंसिल ऑफ वूमन इन इण्डिया (1925), ऑल इंडिया वूमन कॉन्फ्रेंस (1927) आदि हैं। साम्राज्य विरोधी संघर्ष के विकास की प्रक्रिया में अन्य संस्थाओं में 'वीमेंस होम रूल लीग', इंडियन वूमेंस यूनिवर्सिटी है। ये सभी संगठन एवं संस्थाएँ अराजकता थीं। इन स्त्री संगठनों में से वूमेंस इंडियन एसोसिएशन ने अखिल भारतीय स्तर पर स्त्रियों एवं विविध स्त्री संगठनों को एकसाथ एक मंच पर लेकर आई और 'इंडिया वूमेंस कॉन्फ्रेंस' के नाम से 'अखिल भारतीय स्त्री संगठन' बनाया।

भारत में स्त्री आंदोलन का आगमन 19वीं शताब्दी में हुआ जबकि हिन्दी साहित्यिक प्रदेश 19वीं शताब्दी तक मौन धारण किए रहा। लगभग 20वीं शताब्दी के बाद हिन्दी प्रदेश ने अपने मौन को तोड़ा। हिन्दी प्रदेश में स्त्री आंदोलन की स्थिति पर वीर भारत तलवार अपनी पुस्तक 'राष्ट्रीय नवजागरण और साहित्य' में लिखते हैं - "हिंदी प्रदेश में 19वीं सदी तक स्त्री-आंदोलन का कोई पता नहीं मिलता। कहते हैं कि 1874 ई. में भारतेंदु हरिश्चंद्र ने स्त्री-शिक्षा के लिए एक पत्रिका बाला-बोधिनी निकाली थी। लेकिन इस पत्रिका के बारे में और कोई जानकारी नहीं मिलती। गौरीदत्त के उपन्यास देवरानी-जेठानी की कहानी (1870) और श्रद्धाराम फुल्लौरी के भाग्यवती (1877) से स्त्रियों को शिक्षित करने के लिए पुरुष समाज-सुधारकों के उत्साह का पता चलता है। लेकिन इन सबसे स्त्री-आंदोलन का कोई सिलसिला नहीं चला।⁴ यह सही है हिन्दी साहित्यिक प्रदेश में स्त्री जाग्रति कुछ देर से आई किंतु इस जाग्रति से हिन्दी प्रदेश में जो स्त्री आंदोलन शुरू हुआ वह भारत के नवजागरणकालीन प्रारंभिक स्त्री आंदोलन की भाँति पुरुष प्रेरक नहीं था; यह पहले से 19वीं शताब्दी के अंतिम दशकों में उठे स्त्री आंदोलन के कारण स्त्री प्रेरक रहा।

हिन्दी प्रदेश में 20वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में सर्वप्रथम व्यक्तित्व रामेश्वरी नेहरू का आता है। 1909 में 'प्रयाग महिला समिति', स्त्री साहित्य के रूप में 'स्त्रीदर्पण' पत्रिका इन्हीं की देन है। स्त्री समस्याओं को उठाना एक अलग बात है और समस्याओं को उठाकर उसका समाधान ढूँढ़ना एक अलग बात। 'स्त्रीदर्पण' पत्रिका ने ये दोनों कार्य किए। इसने स्त्री आंदोलन को जीवित रखा। 'स्त्रीदर्पण' पत्रिका के विषय में वीर भारत तलवार लिखते हैं - "स्त्री-दर्पण हिंदी प्रदेश में स्त्री-आंदोलन की सबसे महत्त्वपूर्ण पत्रिका बनी। स्त्रियों की समस्याओं को एक आंदोलनकारी ढंग से,

इतनी गम्भीरता और गहराई से, उठाने वाली पत्रिका उस समय कोई दूसरी न थी। पहले विश्वयुद्ध के दौर में और उसके बाद हिंदी में किसान-साहित्य की ही तरह स्त्री-साहित्य की भी काफी रचना हुई। स्त्रियों के सवाल को उठाया गया, खुद स्त्रियों ने आगे बढ़कर अपनी समस्याओं पर बहस चलाई और साहित्य लिखा।" 20वीं शताब्दी में हिन्दी प्रदेश का अपना साहित्य, रचानकार थे परंतु हिन्दी प्रदेश में स्त्री संगठन के नाम पर कुछ कहने के लिए नहीं था। स्थानीय या क्षेत्रीय स्तर पर कुछ स्त्री-संगठन थे। स्त्री संगठनों को हिन्दी प्रदेश का पूर्ण सहयोग मिला और 'पत्रिकाओं' को हिन्दी प्रदेश में दोहरी भूमिका निभाने का अवसर प्राप्त हुआ।

20वीं शताब्दी की पत्रिकाएँ हिन्दी समाज में 'स्त्री संगठन' की संवाहिका बनी। पत्रिकाएँ लगातार क्षेत्रीय या स्थानीय स्त्री संगठनों द्वारा दिए व्याख्यानों को प्रकाशित करती रही। अपने विचारों को राष्ट्रीय स्तर पर फैलाया। इसने 'स्त्रीदर्पण' पत्रिका को गंभीर से गंभीर विषयों पर समर्थकों एवं विरोधियों को सृजनात्मक बातचीत का मंच दिया। अधिकतर सभी मुद्दे स्त्रियों के जीवन से जुड़े हुए थे। ऐसा एक मुद्दा विधवा पुनर्विवाह है - स्त्री की स्वतंत्रता का एक रूप। स्त्री जीवन से जुड़े इस प्रश्न ने पुरुषों से अधिक स्त्रियों में रोश भर दिया। जनवरी 'स्त्रीदर्पण' 1911 के अंक में प्रकाशित 'प्रयाग महिला समिति' में दिए सावित्री देवी के व्याख्यान से स्त्रियों के सामाजिक स्वास्थ्य एवं मौलिक अधिकार से लेकर उनकी स्वाभाविक यौन इच्छाओं तक वाद-विवाद हुआ। इस व्याख्यान की सार्थकता मंगलानंद की टिप्पणी में विधुरों की युवा लड़कियों से विवाह के सामाजिक अनुमोदन के प्रश्न और विधवा पुनर्विवाह के समर्थन में है। इस विषय में कमलेश मोहन लिखते हैं - "उन्होंने पतिव्रता धर्म को भी पुनः परिभाषित किया। उनके विचार में, पतिव्रता धर्म में मृत पति के प्रति समर्पण अंतर्निहित नहीं है बल्कि उस पुरुष के प्रति सत्यनिष्ठा की परंपरा का अनुसरण है जिससे विधवा विवाह करती है। उन्होंने तर्क दिया कि विधवा पुनर्विवाह निश्चित ही महिलाओं को नैतिक पतन की ओर नहीं ले जाएगा।"⁶ इससे अच्छा तर्क और क्या हो सकता है? जो स्त्री जीवन को लकीर का फकीर बनने पर विवश न करे। जीवन में प्राचीन मूल्यों/आदर्शों का बदलना जरूरी होता है अन्यथा वह रूढ़ हो जाते हैं। एक पतिव्रता स्त्री कैसी होती होगी या कैसी होनी चाहिए? यह 'सरस्वती' पत्रिका में एक स्त्री के चित्रांकन से जाना जा सकता है।

18 फरवरी 1917 को 'प्रयाग महिला समिति' द्वारा नन्दरानी नेहरू के नेतृत्व में एक सभा का आयोजन किया गया। यह सभा कुली रूप में स्त्री भरती की रोक पर ब्रिटिश सरकार से प्रार्थना के लिए आयोजित की गई। इस सभा में प्रतिष्ठित स्त्री-पुरुषों श्रीमती रामेश्वरी नेहरू, श्रीमती बेगम साहब, सर बुलन्द जंग, श्रीमती उमा नेहरू, श्रीमती धर्मपत्नी बाबू प्रयाग दास राय बहादुर, श्रीमती लाडलीशुरी जुत्शी, श्रीमती सावित्री देवी आदि ने व्याख्यान दिए। मार्च 1917 में 'प्रयाग महिला समिति' द्वारा आयोजित सभा में

‘स्त्रियाँ और भरती’ शीर्षक से श्रीमती नन्दरानी नेहरू के व्याख्यान को ‘स्त्रीदर्पण’ ने प्रकाशित किया। यह अमेरिका, अफ्रीका और फीजी टापू में स्त्री-पुरुषों की स्थिति पर केंद्रित था। भारत के बाहर सस्ते मजदूरों की कमी को ब्रिटिश सरकार ने भारतीय स्त्री-पुरुषों को अमेरिका, अफ्रीका और फीजी टापू में भेजकर पूरा किया। प्रति व्यक्ति के श्रम से दोगुनी मजदूरी भारतीय पुरुषों से कराई जाती थी। चूँकि इन्होंने स्त्रियों को श्रम के लायक नहीं समझा तो भारतीय स्त्री की अस्मिता अमेरिकी, अफ्रीकी, फीजी अधिकारियों को जबरन लूटने के लिए मुहैया कराई गई। इनके लिए स्त्रियाँ व्यापार बन गई। इस पर लांछित स्त्रियों को किया जाता था। ‘प्रयाग महिला समिति’ में दिए नन्दरानी नेहरू के व्याख्यान में लिखा है - “वहाँ के मजदूर वहाँ से हर साल भेजे जाते हैं और फी 3 पुरुष के लिये एक स्त्री होती है। वहाँ के मजदूर रखने वाले औरत मंगाना पसन्द नहीं करते, कारण यह है कि औरत से काम उतना नहीं ले सकते जितना पुरुष से और रेल और जहाज़ का खर्चा उतना ही देना होता है जितना पुरुष का। उन लोगों को केवल उन स्त्रियों की ज़रूरत है कि जो या तो वेश्यायें हों या ऐसी हों जो वेश्यायें बना दी जावें।...भारत की स्त्रियाँ जो स्वयं इस बात तक को बुरा समझती थीं कि किसी पुरुष का जो उनका पति न हो मुंह तक देखें, वहाँ एक के बाद एक पति बदल डालती हैं। एक पुरुष ने बहुत ही रंज से एन्डरूज़ साहब से कहा कि हमारी औरतें बड़ी बेशर्म हैं वह कपड़ों की तरह पति बदलती हैं। मेरा प्रश्न यह है कि इसमें उन बिचारी मूर्ख स्त्रियों का क्या दोष है। धोखा देकर लेकर ले जाई गईं भेड़ बकरियों की तरह स्त्री-पुरुष साथ भर दिये गये बुरे अच्छे भलेमानस बदमाश किसी में फर्क नहीं। खाना पीना सोना जगना उठना बैठना सब एक ही जगह मुद्दत तक यही नहीं बल्कि उन लोगों के संग जिन को स्त्रियों की इज्जत लेना बायें हाथ का खेल है। ऐसी हालत में और क्या हो सकता है। पहिले तो उन को बेइज्जत करो और फिर कहो कि वह लोग बहुत नीच हैं। यह कौन-सा न्याय है?”

नन्दरानी नेहरू ने व्याख्यान में ब्रिटिश सरकार से कुली प्रथा रोकने के लिए प्रार्थना के साथ-साथ स्त्री के अधिकारों के पक्ष में भारतीय धर्म ग्रंथों से प्रमाण जुटाते हुए ‘विवाह’ की व्याख्या की। नन्दरानी नेहरू ने कहा - “लाट साहब से सविनय प्रार्थना करती हैं कि ऐसा न करें क्योंकि उन्हीं कुटनों को जिनको मैं पहिले कह चुकी हूँ और धोखे देने का मौका मिलेगा। हमारी प्रार्थना है कि हमारी इज्जत बचावें न कि और लेने के मौके दें। हर राजा का धर्म है कि प्रजा को दुष्टों से बचावें और उस की रक्षा करे और इसी धर्म का पालन करना हमारे लाट साहब का कर्तव्य है। उनको शायद यह मालूम नहीं कि हमारे शास्त्र एक से पति से अधिक करने की आज्ञा नहीं देते और हमारा देश भर विधवा विवाह तक बुरा समझता है। वह यह बात कब तक गवारा कर सकता है कि ऐसा क़ानून बना दिया जावे कि स्त्री कपड़ों की तरह पति बदल सके। हम लाट साहब का ध्यान इस ओर दिलाती हैं। हम अपने उन

भाईयों का ध्यान भी इस ओर दिलाती हैं कि जो विधवा विवाह होने पर आसमान ज़मीन सर पर उठा लेते हैं। उनसे यह प्रार्थना है कि इस क़ानून को मंसूब कराने का पूरा आन्दोलन करें। विधवा विवाह से बुरा सधवा विवाह है।”⁸ नन्दरानी नेहरू भारतीय स्त्री को मुक्त कराने के विचार उत्तम थे लेकिन तर्क असंगत थे। वह अपने तर्कों से स्त्री के पुनर्विवाह की विरोधी प्रतीत होती हैं।

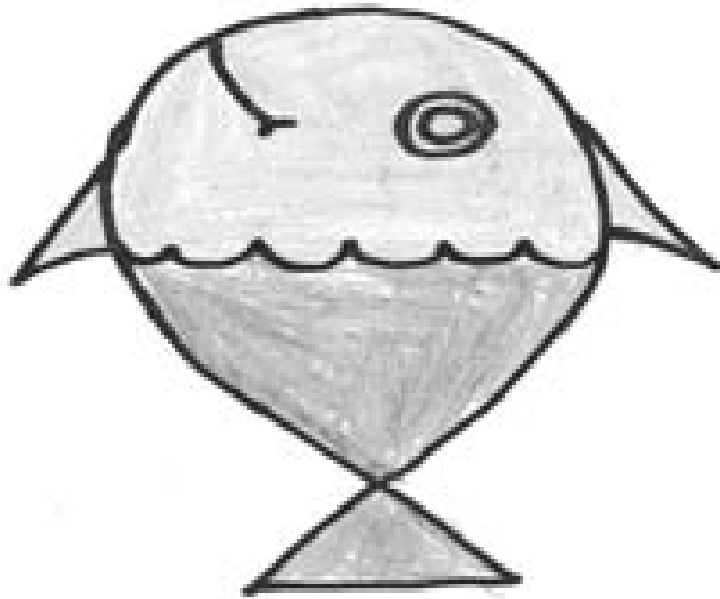
‘स्त्रीदर्पण’ अगस्त 1917 के अंक में ‘रंगून महिला समिति’ में दिए व्याख्यान को श्रीमती रामेश्वरी नेहरू ने अपनी संपादित पत्रिका में प्रकाशित किया। रामेश्वरी नेहरू का यह व्याख्यान भारतीय समाज की क्रूर कुरीति पर्दा प्रथा पर था। इनके लिए एक स्त्री का स्वतंत्र विहीन होना पर्दे में रहने के बराबर है। स्त्री की अधीनता कितनी परतों में होती होगी स्पष्ट है! पर्दा प्रथा ने स्त्री-पुरुष के शारीरिक-मानसिक एवं प्रेम संबंध जैसा कुछ शेष नहीं रखा था। रामेश्वरी नेहरू ने इन्हें नई परिस्थितियों, नए कालखण्ड, नए परिवेश एवं नए संदर्भों में परिभाषित किया। वह लिखती हैं - “पर्दे के कारण हम स्कूल की शिक्षा अर्थात् पुस्तकों से शिक्षा भी नहीं ग्रहण कर सकतीं देख सुन-कर जो शिक्षा अर्थात् पुस्तकों से शिक्षा मिलती है उसके द्वार तो पहिले ही से बन्द हैं परिणाम यह है कि हमारे पति, पिता, भाई, पुत्रों में कोई ऐसी बात नहीं होती जिस पर हम दो चार घड़ी मिल बैठकर बात कर सकें। अपने पति, पुत्रों के दिमागी कामों में भाग या हिस्सा न ले सकना हमारे गृहस्थ सुख के लिये प्राणघातक है। केवल शारीरिक प्रेम, केवल शारीरिक संबंध सुख का दाता कभी नहीं हो सकता। सच्चे सुख को प्राप्त करने लिये, सच्चे प्रेम का आनन्द लेने के लिये यह बात आवश्यक है कि हममें व हमारे पुरुषों में दिमागी सम्बन्ध हो और यह कदापि आज कल की दशा में पर्दे में रहकर नहीं हो सकता।”⁹ अपने अधिकारों की प्राप्ति के लिए आंदोलन ‘स्त्री आंदोलन’ की आधारभूत विशेषता थी। यह व्याख्यान स्त्रियों को उनके अधिकार, जाति, पुरुष, देश के उद्धार के लिए पुरुष मानसिकता के विरुद्ध आंदोलन करना सिखाता है। स्त्रियों को सशक्त बनाता है। पत्रिकाओं में व्याख्यान केवल इसलिए दिए गए ताकि स्त्रियाँ आंदोलित हो सकें! समिति का अटूट हिस्सा बन सके। बर्मा देश की ‘रंगून महिला समिति’ में संपादिका का ‘स्त्री का कर्तव्य’ शीर्षक से ‘स्त्रीदर्पण’ जुलाई 1917 के अंक में संपादकीय टिप्पणी में अपने व्याख्यान को प्रकाशित करते हुए संपादिका ने स्त्री का प्रमुख कर्तव्य समितियों का अटूट हिस्सा बनना माना है। व्याख्यान के शब्द हैं - “यदि बहिनों, आप अपनी जाति को संसार में जीवित रखना चाहती हैं, उसका अन्य जातियों के पैरों के तले कुचला जाना नहीं चाहती तो उद्योग कीजिये, आलस्य छोड़िये और काम करना आरंभ कीजिये। सब से प्रथम काम हमारे लिये यह है कि हम अपनी इस निर्जीव समिति में जान डाले और इसमें आकर इसकी सभासदों की सहायता से अपनी व अपनी जाति की उन्नति में तन, मन, धन से रत हो जायं।”¹⁰ समितियों, संगठनों को क्या चाहिए था केवल इतना कि स्त्रियाँ

अपने पैरों पर खड़ी हो जाए। वह आत्मनिर्भर बन सम्मानित जीवन व्यतीत कर सकें। 'बम्बई सेवासदन सभा' 20वीं शताब्दी की ऐसी-वैसी सभा नहीं थी। इसका सरोकार किसी जाति-धर्म से न होकर स्त्री जीवन उद्धार से था। 'स्त्रीदर्पण' मार्च 1917 के अंक में संपादिका 'बम्बई सेवासदन सभा' पर दृष्टि डालते हुए लिखती हैं - "इस सभा के स्थापित करने की गरज यह थी कि बेघर वाली स्त्रियों को रहने का घर, भूखों को खाना, बीमारों को दवा, बेकार को काम दे। यद्यपि कोई भी सभा या समिति सारी दुनिया के दर्द बीमारी को दूर नहीं कर सकती और न यह ही कर सकती है तो भी इस सभा का काम प्रशंसनीय है कि आठ वर्ष के भीतर इसने ऐसी जगह बना ली है कि जहां 30 बेघर की स्त्रियों को रहने का स्थान दिया जाता है और उन की शिक्षा का भी बन्दोबस्त किया जाता है। स्त्रियों और लड़कियों को काम भी सिखाने का बन्दोबस्त है। सिलाई का काम जो स्त्रियों के वास्ते परम आवश्यक माना गया है खास तौर पर सिखाया जाता है। कपड़े काटना, भोजना पकाना, मोजे बुनना सिखाया जाता है। और मराठी और उर्दू पढ़ाने के वास्ते अलग-अलग दरजे खोले गए हैं।"¹¹ 20वीं शताब्दी में स्त्रियों को आत्मनिर्भर बनाने का प्रशिक्षण उनके स्त्रीत्व गुणों से समझौता किए बगैर दिया गया। अन्यथा स्त्री को ऐसे प्रशिक्षण की क्या आवश्यकता थी जो उन्हें स्त्री होने का आभास कराए। अतः कह सकते हैं कि स्त्री को स्त्रीत्व का आभास कराना स्त्री मुक्ति

संगठनों, समितियों का सबसे कमजोर पक्ष रहा है किंतु इससे स्त्री मुक्ति आंदोलन पर कोई विशेष फर्क नहीं पड़ा। आज स्त्रियाँ प्राचीन आदर्शों की मर्यादा लॉघ चुकी हैं। स्त्री मुक्ति की चाह में अनेक धाराओं को समाहित करके संगठनों, समितियों की मदद से कभी न रुकने का प्रण लिए निरंतर चलती जा रही है।

संदर्भ सूची

1. आज का स्त्री आंदोलन, (सं.) रमेश उपाध्याय संज्ञा उपाध्याय, पृ. 14
2. वीर भारत तलवार, राष्ट्रीय नवजागरण और साहित्य, कुछ प्रसंगः कुछ प्रवृत्तियाँ, पृ. 124
3. राधा कुमार, स्त्री संघर्ष का इतिहास, (अनु. एवं सं.) रमा शंकर सिंह 'दिव्यदृष्टि', प्र. 121-122
4. वीर भारत तलवार, राष्ट्रीय नवजागरण और साहित्य, कुछ प्रसंगः कुछ प्रवृत्तियाँ, पृ. 126
5. वही, पृ. 127
6. कमलेश मोहन, रामेश्वरी नेहरू, (अनु.) शमीम खान, पृ. 53
7. स्त्रीदर्पण, मार्च 1917, पृ. 156-157
8. वही, पृ. 157-158
9. वही, अगस्त 1917, पृ. 112
10. वही, जुलाई 1917, पृ. 6
11. वही, मार्च 1917, पृ. 113-114



ध्यान हो (नर्सरी स्कूल, जेएनयू)

सर्जक, सत्ता और जीवन संघर्ष : चुनिन्दा हिन्दी नाटक डॉ. विपुल कुमार



स्वतंत्रता-पूर्व छायावादी साहित्य की रूमनियत में आदर्श की एक रंगत मिली हुई थी, जो रचनाकार को अंततः नैराश्य से बचा ले जाती थी। स्वतंत्रता के बाद वह रूमनियत हिंदी रचना में फिर लौटी, लेकिन नए यथार्थ के सम्मुख आदर्श खंडित हो गया। पुरानी रूमनियत अपने परिवेश से मुक्त होने की इच्छा का परिणाम थी, लेकिन इस नव-रूमनियत को परिवेश-सत्य अर्थात् यथार्थ तोड़ देता है।

स्वातंत्र्योत्तर हिंदी साहित्य में मध्यवर्गीय आकांक्षाओं की अपने ही समय और परिवेश के साथ विकट संघर्ष की अभिव्यक्ति की गई है। इसमें केवल सत्ता और कला के आपसी द्वंद्वात्मक संबंध का ही तीखा चित्रण नहीं है, बल्कि कलाकार का सामाजिक, पारिवारिक तथा जीवन संघर्ष भी है, जो किसी-न-किसी रूप में अर्थ (धन) से प्रभावित है। धन ही सर्जक की वास्तविकता और आकांक्षा में अन्तर उत्पन्न करता है और उसकी सर्जना में बाधक भी बनता है।

मध्यवर्ग की वास्तविकता और आकांक्षा में जो अंतर होता है, वैसी स्थिति न तो उच्च वर्ग की होती है और न ही निम्न वर्ग की। आजादी के बाद गांव और शहर के बीच जिस संतुलन की आवश्यकता थी, वह न हो सका। दूर-दराज के गांव उसी तरह उपेक्षित रहे, जिस तरह से वे आजादी के पहले थे। इसका परिणाम यह हुआ कि पढ़े-लिखे लोगों का शहर के प्रति आकर्षण बढ़ा। शहर उनके लिए जीविका का साधन भी था और उनकी आकांक्षा के विस्तार का उपाय भी। शहरों की तरफ इस तरह के आकर्षण का परिणाम यह हुआ कि मध्यवर्ग शहर का पर्याय बनता गया। सीमित साधनों और अवसरों के कारण उनके बीच एक ऐसी अंतहीन प्रतियोगिता आरंभ हुई, जो उनकी हताशा, निराशा और कुप्टा के लिए पर्याप्त थी। देश और समाज की चिंता सबसे ज्यादा इसी वर्ग को थी और साथ ही वह - "समृद्धि का विरोधी न होते हुए भी अपनी प्राथमिकताओं को विभिन्न ढंग से तय करता था। वह बच्चों के लिए अच्छी शिक्षा, पौष्टिक भोजन, समुचित पारिवारिक मूल्य और एक अनाडम्बरपूर्ण लेकिन सभी सुविधाओं से पूर्ण जीवन उपलब्ध करने में ज्यादा दिलचस्पी रखता था। वह शिक्षा और विशेष तौर पर उच्च शिक्षा को विशेष महत्त्व देता था। यह आग्रह मध्यवर्ग को अपनी परंपरा से मिला था। उसकी ऐतिहासिक स्मृति में अभी भी यह तथ्य बार-बार कौंधता था कि शिक्षा के जरिये मिले अवसरों से ही कभी उसका निर्माण हुआ था।"¹

अपनी संस्कृति की सबसे ज्यादा चिंता भी इसी वर्ग को होती है। पवन कुमार कहते हैं - "मध्यवर्ग ने भारत के अतीत को रूमानी ढंग से देखकर अपने चिंतन को एक खास आयाम दिया। किसी गंभीर अध्येयन या विश्लेषण के आधार पर उसने यह राय नहीं बनायी थी। इस बुनियाद में तो उस मिथकीय अतीत से गौरवान्वित होने की भावनाएँ निहित थी, जिसके अनुसार अपमानजनक गुलामी से पहले इस धरती पर दूध की नदियाँ बहती थीं, सांस्कृतिक समृद्धि अपने शिखर पर थी और यह देश नैतिक रूप से जागरूक व राजनीतिक रूप से शक्तिशाली

था।"² इस स्वर्णकालीन अतीत के चश्मे से जब वह वर्तमान को देखता था तो उसे अपने वर्तमान से भारी निराशा होती थी। वर्तमान में व्याप्त भ्रष्टाचार, भाई-भतीजावाद, नैतिक पतन उसे कलयुगी शाप प्रतीत होते और वह उससे बाहर जाने की इच्छा के बावजूद इसमें जीने के लिए विवश था। "भ्रष्टाचार से परेशान मध्यवर्ग उसे खूब कोसता था, लेकिन दूसरी ओर नैतिक गिरावट व वैचारिक शून्यता के कारण भ्रष्टाचारियों की संख्या में बढ़ोत्तरी भी इसी वर्ग में हो रही थी। विचित्र बात यह थी कि भ्रष्टाचार से अपनी जेबें भर रहा व्यक्ति निजी बातचीत में ऊँचे स्तरों पर भ्रष्टाचार की भर्त्सना करने का कोई मौका नहीं छोड़ता था। इस प्रकार ज्यादा बड़े पैमाने पर ऊँचे स्तर पर भ्रष्टाचार की निंदा के जरिये मध्यवर्ग अपनी अनैतिकता को मनोवैज्ञानिक रूप से न्यूनतम कर लेता था। इस प्रवृत्ति ने पाखंड को बढ़ाया, लेकिन अपराधबोध को कम किया। खास बात यह थी कि भ्रष्टाचार से परेशान ज्यादातर लोगों ने सोचा कि उसूलों की धूल फांकते रहने से बेहतर तो बहती गंगा में हाथ धो लेना ही है। चूँकि रिश्वत देने से काम जल्दी हो सकता था, इसलिए उसकी निगाह में रिश्वत देना ही ठीक हो गया, न कि उसके लिए संघर्ष करना। फिर यदि जायज को रिश्वत देकर हासिल किया जा सकता है तो नाजायज को क्यों नहीं? पतन का अगला चरण यही होना था।"³ जब जायज और नाजायज का फर्क मिट गया तो - "स्वाभाविक ही था कि जो जितना सत्तावान था, वह उतना ही भ्रष्ट और निरंकुश होता गया। उधर हम जिनके खिलाफ विद्रोह करके 'बाहर' आये थे, पहले अवसर मिलते ही खुद उसी रूप में ढलने लगे, क्योंकि सारी उपनिवेशी व्यवस्था और सामंती परिवार, समाज रचना वही थी, बल्कि हमें तो अब और ज्यादा निश्चित छूट थी, क्योंकि ऊपर-नीचे सब 'अपने ही लोग' थे। हमने आस्था से नहीं, सहूलियत से दुहरे मूल्य अपनाये। शुरू में अपराध-बोध के साथ, फिर अभ्यास और अधिकार के साथ।"⁴ इस प्रकार मध्यवर्ग अपने चारों तरफ ऐसा जाल बुनता गया, जिसमें वह जितना निकलने का प्रयास करता, उतना ही फँसता जाता। कल्पना लोक और यथार्थ लोक की नावों पर एक साथ सवार होकर वैतरणी पार करने की उसकी इच्छा ने उसे डूबने के लिए विवश किया।

जगदीशचन्द्र माथुर के नाट्य साहित्य के केंद्र में मध्यवर्गीय जीवन का चरित्र है। माथुर ने आधुनिक सभ्यता और समाज-विशेषतः मध्यवर्ग की नानाविध समस्याओं को निकट से परखा है, उनकी मुसीबतों, परेशानियों का अनुभव किया है। इस कारण उनके नाटकों का रचना-विषय, मध्यवर्ग का हास-रुदन है, उसकी आशा-आकांक्षा, कसक-तड़प है। मध्यवर्ग की समस्याओं के चतुर-चितेरे माथुर ने आधुनिक समाज के स्त्री-पुरुष संबंध को भी अपनी रचनाओं के माध्यम से उजागर किया है।

कोणार्क का महाशिल्पी विशु कथा के प्रारंभ में पारिवारिक तथा सामाजिक सरोकारवाला नहीं, लेकिन जैसे-जैसे नाटक की कथा आगे बढ़ती है, वैसे-वैसे एक कलाकार के वास्तविक जीवन की सच्चाईयों से

पर्दा उठने लगता है। महाशिल्पी विशु एक उद्देश्य लेकर कोणार्क मंदिर बनाने नहीं आया। वह तो समाज और अपने दायित्व से भागकर आश्रय लेने आया था। विशु सौम्य से कहता है - “नहीं सौम्य। जब मुझे ज्ञात हुआ कि वह माँ बनने वाली है तो कुल और कुटुम्ब के भय ने मुझे ग्रस लिया। नदी पर बढ़ती साँझ की तरह उस भय की तंद्रा मेरी बुद्धि पर छा गयी। और मैं भाग आया, सारिका और उसकी अजात संतान से दूर-बहुत-दूर भुवनेश्वर में देवमंदिर की छाया में - कला के आँचल में अपना मुँह छिपाने।”⁵

आषाढ़ की एक दिन का कलाकार कालिदास भी अपने पारिवारिक और सामाजिक दायित्व का निर्वाह करने से कतराता है। कालिदास और मल्लिका एक-दूसरे से प्रेम करते हैं। समाज हर मानवीय संबंध को एक आधार देना चाहता है। उसके पास स्त्री-पुरुष-संबंध के लिए एक ही आधार है - ‘विवाह’। ऐसा नहीं होने पर लोकोपवाद जन्म लेता है, जिससे अम्बिका आहत है। मल्लिका कालिदास से कहती है - “...माँ को अनुमान हो गया होगा कि वर्षा में मैं तुम्हारे साथ थी, नहीं तो इस तरह भीगकर न आती। माँ को अपवाद की बहुत चिंता रहती है...।”⁶ कालिदास मल्लिका की बातों में दिलचस्पी नहीं लेता। वह अपनी ही भावनाओं को व्यक्त करता रहता है।

हानूश का कलाकार हानूश एक कुलसाज है। उसकी आकांक्षा देश की पहली सबसे बड़ी घड़ी बनाने की है। किंतु ताला बनाकर जीवन-यापन करनेवाला मेहनती, ईमानदार कलाकार अपना शौक पूरा करने के लिए अपनी पारिवारिक जिम्मेदारियों को प्राथमिकता नहीं दे पाता है। हानूश की पत्नी कात्या कहती है - “घड़ियाँ बनाने का शौक था तो फिर ब्याह नहीं करना चाहिए था। यह नहीं हो सकता कि घर-गिरस्ती भी बनाओ और उसके खाने-ओढ़ने का इंतजाम भी नहीं करो...।”⁷

यहाँ तीनों नाटकों कोणार्क, हानूश और आषाढ़ का एक दिन में चित्रित पारिवारिक व सामाजिक स्थिति भिन्न-भिन्न है, लेकिन एक बात जो तीनों में निहित है - वह है आत्म सीमित होना। कोणार्क का कलाकार विशु अपना मुँह छिपाने के लिए कला सर्जन कर रहा है। विशु को न तो अपने होने वाली संतान के प्रति चिंता है और नहीं अपनी प्रेमिका के प्रति। वह सिर्फ अपने बारे में भला-बुरा सोचकर भाग खड़ा हुआ। सौम्य द्वारा विशु से पूछे जाने पर कि ‘वह रागिनी टूटी कैसे?’ के जवाब में विशु कहता है - “वही कायरपन की कथा! सूर्यदेव भी तो कायर ही थे।”⁸

हानूश का हानूश अपने शौक को पूरा करने में लगा है। उसके इस शौक के कारण घर में आर्थिक तंगी का आलम यह हुआ कि हानूश का बेटा सर्दी में ठिठुरकर मर गया। पर हानूश का शौक उसका पीछा नहीं छोड़ पाया। कात्या पादरी से कहती है - “...घर में खाने को न हो तो मैं अपनी बच्ची को कैसे पालूँ? ...मेरा बेटा सर्दी में ठिठुरकर मर गया। जाड़े के दिनों में सारा वक्त खांसता रहता था। घर में इतना ईंधन भी नहीं था कि कमरा गर्म रख सकूँ।... छः महीने तक मैं बच्चे को छाती से लगाए घूमती रही। किधर गया मेरा मासूम बेटा? मैं इसकी घड़ी का क्या करूँ।”⁹

आषाढ़ का एक दिन का कालिदास अपनी अभावग्रस्तता को दूर करने के लिए राजसत्ता का आश्रय ग्रहण करता है। कालिदास मल्लिका से कहता है - “तुम्हें बहुत आश्चर्य हुआ था कि मैं कश्मीर का शासन संभालने जा रहा हूँ? तुम्हें यह बहुत अस्वाभाविक लगा होगा। परंतु मुझे इसमें कुछ भी अस्वाभाविक प्रतीत नहीं होता। अभावपूर्ण जीवन की

यह एक स्वाभाविक प्रक्रिया थी।”¹⁰

कोणार्क, हानूश और आषाढ़ का एक दिन में कलाकार के मन की कशमकश, उसकी छटपटाहट को दिखाया गया है। वह अपने पारिवारिक तथा सामाजिक-राजनीतिक परिवेश से टकराता रहता है। हानूश में कलाकार की छटपटाहट और टकराहट की द्वंद्वत्मक स्थिति के बीच से एक सृजनशील, मेहनती, ईमानदार, किंतु दुलमुल व्यक्तित्व के बीच ठोस एवं दृढ़ निश्चयी व्यक्ति का चरित्र उभरता है। हानूश के इस दुलमुल किंतु दृढ़ निश्चयी व्यक्तित्व के कारण उसे और उसके परिवार को हमेशा आर्थिक तंगी से जूझना पड़ता है। इससे उसका पारिवारिक जीवन तनावग्रस्त हो जाता है। हानूश और उसकी पत्नी ने पारिवारिक तनाव झेलते हुए, विपरीत सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों से संघर्ष करते हुए अपनी जवानी के सत्रह-वर्ष झोंक दिए। कात्या का धैर्य अब जवाब दे चुका है। कात्या हानूश पर चिल्लाते और झल्लाते हुए कहती है - “...तो भूखों मरते रहें और मैं उसका हौसला बढ़ाती रहूँ? मुझसे नहीं होगा। घर की हालत क्या आपसे छिपी है? बच्ची के चिथड़े क्या उसे नजर नहीं आते।”¹¹

यह एक सच्चे ईमानदार कलाकार की हकीकत है। कलाकार अपनी सर्जना के लिए पारिवारिक तथा सामाजिक दायित्व से समझौता करता है। इसके लिए कलाकार को कीमत चुकानी पड़ती है, वह परिवार का कोप-भाजन बनता है। आषाढ़ का एक दिन का कालिदास भी अपने परिवार तथा अम्बिका के कोप-भाजन का शिकार बनता है। अम्बिका को समाज के साथ-साथ अपनी बेटी मल्लिका की चिंता खाए जाती है। मल्लिका समाज की परवाह किये बगैर कालिदास के साथ रहती है ताकि वह उत्तम से उत्तम रचना का सृजन कर सके। अम्बिका को पसंद नहीं है कि मल्लिका समाज की वर्जनाओं को तोड़कर कालिदास के साथ रहे। अम्बिका मल्लिका से कहती है - “...—यदि वास्तव में उसका तुमसे भावना का संबंध है तो वह क्यों तुमसे विवाह नहीं करना चाहता।”¹² अम्बिका कालिदास के विषय में ऐसा इसलिए कहती है, क्योंकि वह कालिदास के कलाकार-चरित्र को समझती है। एक कलाकार अपनी कला के सृजन के लिए स्वतंत्र रहना चाहता है। वह अपनी स्वतंत्रता कायम रखने के लिए किसी भी प्रकार के पारिवारिक-सामाजिक दायित्व के निर्वाह से भागता है। शायद मल्लिका भी कालिदास के इस चरित्र को समझती है। लेकिन वह अपनी माँ के सामने कालिदास के कलाकार व्यक्तित्व का यह पहलू उजागर नहीं करना चाहती हैं। वह अम्बिका से कहती है - “...तुम जानती हो, उनका जीवन परिस्थितियों की कैसी विडम्बना में बीता है, मातुल के घर की क्या दशा रही है। उस साधन-हीन और अभाव-ग्रस्त जीवन में विवाह की कल्पना ही कैसे की जा सकती है।”¹³

छठे दशक के कलाकार की नियति है - साधनहीनता और अभावग्रस्तता। कारण कलाकार का मध्यवर्गीय होना है। स्वतंत्रता के बाद नव-निर्मित भारत में रोजगार की खोज मध्यवर्गीय व्यक्ति को उसकी अपनी भूमि से उखाड़कर वहाँ से आई, जहाँ वे अपनी जड़ें नहीं जमा सके। और समय तथा परिवेश के व्यवधान ने उन्हें दोबारा वहाँ भी जमने नहीं दिया, जहाँ से वे उखड़ आए थे। यह दोबारा विस्थापन मोहन राकेश के रचना-संसार का केंद्र है, लेकिन कोणार्क में स्थिति थोड़ी अलग है। कोणार्क का कलाकार सामाजिक भय के कारण अपनी जिम्मेदारियों से भाग खड़ा होता है। विशु सामाजिक सत्ता के भय के कारण अपनी प्रेमिका और होनेवाले बच्चे के लिए कुछ भी नहीं कर पाता। विशु उन्हें संघर्ष और कष्टभरी जिंदगी जीने के लिए मजबूर कर

देता है। विशु सौम्य से कहता है - "...जंगलों में भटकने वाली निराश्रिता अविवाहिता माँ और उसके बच्चे से मिलने की आशा? ...नहीं सौम्य, नहीं! ...मुझे प्रायश्चित करना होगा।"¹⁴

विशु प्रायश्चित करना चाहता है, वह भी इसलिए कि कला साधना से वह कभी-कभी विचलित हो जाता है, उन्हें याद कर। इस कारण वह कोणार्क मंदिर की कला को मूर्त रूप में पाने में असक्षम महसूस करता है। वह ध्यान केंद्रित नहीं कर पाता। वस्तुतः कोणार्क मंदिर का निर्माण विशु की प्रेमिका सारिका के प्रेम का प्रतिफल है। सौम्य विशु से कहता है - "---- कैसी विडम्बना है विशु, कि तुम्हारी टूटी हुई रागिनी का विषाद ही तुम्हारी चमत्कारपूर्ण कला का वैभव बना।"¹⁵ आषाढ़ का एक दिन का कलाकार अपनी प्रेमिका और ग्राम-प्रांतर से दूर होकर कला की सर्जना तो करता है, लेकिन अपनी पूर्ण सृजनात्मकता की अभिव्यक्ति नहीं कर पाता।

कोणार्क का कलाकार विशु जो स्वयं पारिवारिक व्यावहारिकता और निजी जीवन की कला में पराजित हुआ है। दुनिया के लिए बहुत बड़ा कलाकार हैं वह, किंतु अपनी जिम्मेदारियों के प्रति ईमानदार नहीं। विशु सौम्य से कहता है - "सौम्य, भव्य मंदिरों को बनाने वाले मेरे ये हाथ सारिका और उसकी संतान के लिए एक झोंपड़ी भी न बना सके।"¹⁶

कोई भी कलाकार जब कला की सिद्धि कर लेता है तब उसे दुनियादारी की याद आती है वह चाहे कोणार्क का विशु हो या हानूश का हानूश। कोणार्क के प्रतिष्ठापन के दिन युद्ध के दौरान जब विशु को पता चलता है कि धर्मपद उसका बेटा है, तब उसके लिए कला और कलाकार का कोई महत्त्व नहीं रह जाता। घायल धर्मपद को देख कर विशु पुत्र मोह में पड़ जाता है। विशु धर्मपद से उसकी माँ सारिका के बारे में पूछता है और उसे अपने पास बुलाना चाहता है। विशु धर्मपद से कहता है - "नहीं, धर्मपद, हम उसे बुलायेंगे।---- क्या तुम्हारी माँ कल भी नहीं आयेगी?"¹⁷

कोणार्क में जगदीशचन्द्र माथुर ने कलाकार का चित्रण व्यक्तित्व के स्तर पर दो रूपों में किया है। पहला, जब तक विशु का पारिवारिक जीवन अप्रत्यक्ष होता है, तब तक वह कला, सिर्फ कला को महत्त्व देता प्रतीत होता है। धर्मपद विशु से कहता है - "इस मंदिर में बरसों से 1200 से ऊपर शिल्पी काम कर रहे हैं। इनमें से कितनों की पीड़ा से आप परिचित हैं।"¹⁸ विशु की शिल्पियों और श्रमिकों के दैनंदिन जीवन और उनके पारिवारिक जीवन में कोई खास रुचि नहीं है। शिल्पियों और श्रमिकों की दयनीय आर्थिक-सामाजिक स्थिति विशु को दुखी भर करती है। दुनियादारी के पचड़े विशु के चिंतन की परिधि से बाहर हैं।

विशु के व्यक्तित्व का दूसरा पहलू तब प्रकाशित होता है - जब विशु का पारिवारिक जीवन प्रत्यक्ष होता है। विशु पुत्र-मोह और सारिका के मोह में पड़कर पारिवारिक बातें करने लगता है, तभी सौम्य एक विपत्ती की सूचना धर्मपद को देता है। घायल धर्मपद कोणार्क मंदिर की रक्षा के लिए पुनः प्रस्थान करता है। विशु उसे रोकने के लिए पुनः प्रस्थान करता है। विशु उसे रोकते हुए सौम्य से कहता है - "ठहरो, मेरा स्वप्न भंग न करो...।"¹⁹ युद्ध के दौरान राजराज के सैनिक जब धर्मपद को मार डालते हैं, तब विशु को अपनी कला और जीवन की अर्थहीनता का आभास होने लगता है। अंततः संपूर्ण अर्थहीनता की स्थिति में, अपने पुत्र की मृत्यु पर विलाप करता हुआ विशु अपनी कला, अपने स्वप्न की आहुति देता है।

देश और काल के लिए प्राणों की आहुति देने को उद्धत पुत्र के प्रति विशु की ममता और उससे भी पूर्व उसकी माँ के प्रति अपराध भाव और कर्तव्यबोध के कारण जागी प्रेम-भावना, मंदिर के निर्माण और नाश दोनों में मुख्य भूमिका निभाती है। दोनों स्थितियों में समष्टि का आग्रह है, किंतु विशु का 'स्व' दोनों स्थितियों के मूल में है। मंदिर के निर्माण में विशु की प्रेयसी की प्रेरणा थी और नाश में पुत्र के प्रतिशोध की। विशु आरंभ में किंकर्तव्यविमूढ़ स्थिति में था उसके लिए कलाकार होने का अर्थ सिर्फ कलासेवी होना था। यद्यपि वह शिल्पियों की स्थिति से अवगत था तथापि इस अवस्था को वह नियति मानकर स्वीकार करता जाता है। धर्मपद के रूप में नयी चेतना के प्रभाव में आने पर वह कला के पौरुषवान रूप का पक्षधर हो जाता है।

कोणार्क में आधुनिक मार्क्सवादी और लोकतांत्रिक चेतना का समन्वय स्पष्ट रेखांकित किया जा सकता है। धर्मपद द्वारा किसानों कामगारों और शिल्पियों के हक की लड़ाई लड़ना, वर्ग-संघर्ष की प्रक्रिया है। दूसरी तरफ कोणार्क में एक राजा की प्रजा आधुनिक जनता के रूप में परिणत होती दिखाई पड़ती है। लोकतंत्र में जनता को अपना नायक चुनने का अधिकार प्राप्त होता है। कोणार्क में जगदीशचन्द्र माथुर ने प्रजा को अपना राजा चुनने का अधिकार दिया है।

जगदीशचन्द्र माथुर के नाट्य साहित्य के केंद्र में मध्यवर्गीय जीवन का चरित्र है। माथुर ने आधुनिक सभ्यता और समाज-विशेषतः मध्यवर्ग की नानाविध समस्याओं को निकट से परखा है, उनकी मुसीबतों, परेशानियों का अनुभव किया है। इस कारण उनके नाटकों का रचना-विषय, मध्यवर्ग का हास-रुदन है, उसकी आशा-आकांक्षा, कसक-तड़प है।

कोणार्क के शिल्पी भी एक तरह से आधुनिक मध्यवर्ग का ही प्रतिनिधित्व करते हैं। नये यथार्थ के सम्मुख उनका आदर्श खंडित हो जाता है। यह शिल्पी वर्ग नई परिस्थिति में अपने लिए नए आदर्श चुनता है। यह आदर्श विशु का नहीं, बल्कि धर्मपद का है। यह नया आदर्श सत्ता की बर्बरता को चुपचाप सहन नहीं करता बल्कि उसका प्रतिवाद करता है और जरूरत पड़ने पर हिंसा का रास्ता भी अख्तियार करता है। धर्मपद अंतिम सांस तक प्रजा हितकारी सत्ता के चयन के अधिकार को लेकर लड़ता है। उसकी मृत्यु विशु को झकझोर कर रख देती है अंततः विशु अपनी कला की चरम उपलब्धि का ही हथियार के रूप में उपयोग करता है।

इस प्रकार कोणार्क न केवल सत्ता और कला के जटिल रिश्ते को उजागर करता है बल्कि कला की पक्षधरता और उसके चयन के स्वरूप को भी स्पष्ट करता है। कला सिर्फ कला के लिए नहीं है, उसकी सामाजिक उपादेयता है और वही उसकी सार्थकता भी।

1. पवन कुमार शर्मा, भारत के मध्यवर्ग के अजीब दास्तान, पृ-50
2. वही, पृ-45, 3. वही, पृ-89, 4. हंस, अंक-10, मई, 1997, पृ-7
5. जगदीशचन्द्र माथुर, कोणार्क, पृ-28, 6. मोहन राकेश, आषाढ़ का एक दिन, पृ-16 7. भीष्म साहनी, हानूश, पृ-33, 8. वही, पृ-31, 9. भीष्म साहनी, हानूश, पृ-31 10. मोहन राकेश, आषाढ़ का एक दिन, पृ-100, 11. भीष्म साहनी, हानूश, पृ-33 12. मोहन राकेश, आषाढ़ का एक दिन, पृ-24, 13. मोहन राकेश, आषाढ़ का एक दिन, पृ- 1, 14. जगदीशचन्द्र माथुर, कोणार्क, पृ-28, 15. वही, पृ-28 16. वही, पृ-28, 17. वही, पृ-62, 18. जगदीशचन्द्र माथुर, कोणार्क, पृ-30, 19. वही, पृ-62

किशोरावस्था और प्रेम

डॉ. सत्येन्द्र कुमार



‘बालक प्रेम का भूखा होता है’ - इस सूत्र को हम दैनिक जीवन में प्रायः सुना करते हैं। परन्तु वाल्यावस्था के पश्चात् आने वाली किशोरावस्था अथवा जिसे हम ‘टीन एज’ कहते हैं, इस अवस्था में प्रेम की संवेगावस्था में अधिक तीव्रता आ जाती है। प्रेम के दो स्वरूप हैं - नकारात्मक तथा सकारात्मक।

माता-पिता के प्रति प्रेम, भाई बहन के प्रति प्रेम, मित्र के प्रति प्रेम, राष्ट्र के प्रति प्रेम, गुरु के प्रति प्रेम, भगवान के प्रति प्रेम - इन सभी में सकारात्मक प्रेम के विभिन्न स्वरूप हैं, किन्तु विद्यालय, कॉलेज अथवा विश्वविद्यालय में पढ़ने वाले छात्र-छात्राओं के बीच उत्पन्न होने वाला आकर्षण और उसमें से शरीर उपभोग की विकृतियों की ओर ले जाने वाले प्रेम का स्वरूप नकारात्मक है। वहाँ प्रेम अथवा लव (Love) नहीं, बल्कि कामुकता (लोलुपता) अथवा LUST की भयानक स्थिति, उत्पन्न हो जाती है।

टीन एजर लड़कों अथवा लड़कियों के शरीर में प्राकृतिक रूप से होने वाले परिवर्तनों एवं अन्तःस्रावों के कारण शारीरिक एवं मानसिक, स्थिति में परिवर्तन होने लगता है। इन शारीरिक परिवर्तनों के साथ-साथ उनके अन्दर विजातीय आकर्षण की भूख भी पैदा होने लगती है। दूसरी ओर वाह्य वातावरण, विद्यालय, कॉलेज अथवा विश्वविद्यालय का रंगीन माहौल, टेलीविजन, फिल्मों तथा मोबाइल का प्रभाव, विकृत ब्लू फिल्मों, मित्रों का दबाव - ऐसे अनेक परिवल हैं जो लड़कों एवं लड़कियों के शरीर में हो रहे परिवर्तनों में एक प्रकार से आग में घी का काम करते हैं।

ऐसी परिस्थितियों में किसी को यदि कहीं भी अवसर मिल जाये तो वह तुरन्त ही अन्य सजातीय या विजातीय आकर्षण में लुढ़क जाता है। यदि उसे पर्याप्त अवसर अथवा एकान्त मिल जाए तो किसी भी सीमा का उल्लंघन करने में उन्हें कोई संकोच नहीं होता। फिल्मों के अश्लील दृश्यों का मन पर इतना अधिक प्रभाव पड़ता है कि अबोध उम्र के लड़कों अथवा लड़कियों को यह भान नहीं होता कि वे कितना गलत काम कर रहे हैं। आजकल किशोरों (टीनजर्स), के लिए विद्यालयों, कॉलेजों अथवा विश्वविद्यालयों का वातावरण कैसा होता है ? अमेरिका अथवा पश्चिमी देशों की भांति चेन्नई, बंगलूरु, मुम्बई, कोलकाता, हैदराबाद, अहमदाबाद, सूरत, दिल्ली, चंडीगढ़ जैसे बड़े शहरों के विद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों में भी आजकल यदि ‘बॉयफ्रेंड’ अथवा ‘गर्लफ्रेंड’ न हो तो लोग उस छात्र या छात्रा को एबनॉर्मल मानते हैं। इस ‘फ्रेंडशिप’ का अर्थ यही होता है कि आप अपनी किसी भी सीमा का उल्लंघन कर

सम्बन्ध बना सकते हैं, लेकिन परस्पर सहमति से। अब तो माननीय सर्वोच्च न्यायालय ने भी लिव-इन रिलेशनशिप (LIVE-IN RELATIONSHIP) में रहने का आदेश दे दिया है जिससे इस फ्रेंडशिप को और अधिक प्रोत्साहन मिला है। आश्चर्य की बात तो यह है कि आधुनिक मानसिकता वाले कितने माता-पिता भी यह सोचकर बहुत प्रसन्न होते हैं कि ‘यही तो उनकी उम्र है; अभी नहीं करेंगे तो क्या वृद्धावस्था में करेंगे ? यह बात अलग है कि उसके घातक परिणामों को देखने अथवा भोगने की उनकी कोई तैयारी नहीं होती। कभी-कभी तो ऐसा होता है कि ऐसी मनोवृत्ति वाले माता-पिता की भी जब आँखें खुलती हैं, तो वे भयंकर आघात में डूब जाते हैं। इसका कारण यह है कभी कोई पुत्री सगर्भा बन जाती है, कभी कोई पुत्री किसी के साथ भाग जाती है और कभी पुत्र की करतूतों के कारण माता-पिता व परिवार के सभी सदस्यों को सामाजिक रूप से नीचा देखना पड़ता है। कुछ माता-पिता को तो सबसे बड़ा आघात इस बात से लगता है कि पेट पर पथर रखकर वे अपनी जिस सन्तान को पढ़ा रहे हैं, वे सन्तानें पढ़ने के बजाय उनके साथ विश्वासघात करके उन्हें ही पढ़ाते हैं।

‘तरुणावस्था में सेक्स का परिणाम’ इस कठिन पहेली को कैसे समझें और कैसे इसका निदान करें, आधुनिक समाज के लिए यही सबसे बड़ा प्रश्न है। आधुनिक समाज की इस मूलभूत समस्या के निदान में सबसे बड़ा सहयोग माता-पिता ही दे सकते हैं। इसके लिए माता-पिता को निम्नलिखित सीढ़ियाँ चढ़नी पड़ेंगी।

1. पुत्र अथवा पुत्री जब वयस्कता की ओर बढ़ रहे हों, तो सावधानी पूर्वक पति-पत्नी के बीच उसके विषय में चर्चा होनी चाहिए। उनके साथ मिलकर उचित समय पर यथोचित सूचना देनी चाहिए कि क्या गलत है और क्या सही है (यह उम्र लगभग 13 वर्ष तक होती है)।
2. माता-पिता को चाहिए कि वे अपने पुत्र अथवा पुत्री को धैर्यपूर्वक प्रेम से समझाएं कि इस उम्र में लड़की अथवा लड़के के प्रति और लड़के का लड़की के प्रति आकर्षण होना स्वाभाविक है और यह प्राकृतिक भी है, परन्तु उसमें पड़ने के बजाय उन्हें अपना ध्यान अध्ययन में ही केन्द्रित करना चाहिए। माता-पिता को अपने पुत्र-पुत्री से यह भी कह देना चाहिए कि यदि सामने से कोई उन्हें आकर्षित करने का प्रयास करे तो वे उन्हें उसकी जानकारी अवश्य दें। इस विषय में जैसा उचित होगा, वैसा मार्गदर्शन उन्हें दिया जायगा। इस

सम्बन्ध में पुत्र-पुत्रियों को कोई बात छिपानी नहीं चाहिए। यह तभी सम्भव है जब आप अपने पुत्र-पुत्रियों के साथ प्रेमपूर्वक उनकी ए टू जेड बातें ध्यान पूर्वक एवं परममित्र बनकर उनके साथ रहेंगे और जब उन्हें यह विश्वास हो जायेगा कि मेरी माँ और पिताश्री हर बात का बेहद ध्यान रखते हैं। माता-पिता को चाहिए कि वे इस अवस्था में अपने पुत्र-पुत्रियों के मित्र बन जायें।

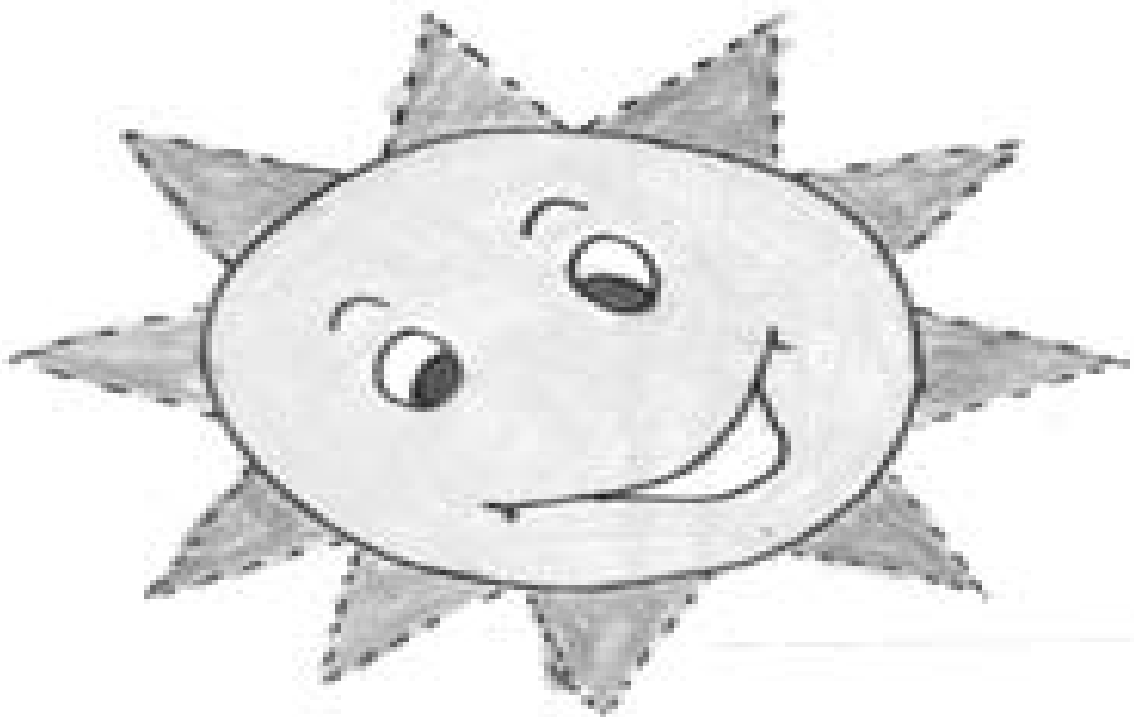
3. अपनी सन्तानों की प्रत्येक प्रवृत्ति के विषय में माता-पिता को अवश्य खबर होनी चाहिए कि उनके मित्र कौन-कौन हैं और वे उनके साथ कितना समय व्यतीत करते हैं और क्या करते हैं ? कभी-कभी ऐसा भी होता है कि सत्संगी लड़कों अथवा लड़कियों के साथ यदि किसी माता-पिता के पुत्र-पुत्री हों, तो प्रायः माता-पिता निश्चिन्त हो जाते हैं, किन्तु ऐसा सोचना उनकी भूल है। सत्संगी होना चारित्र्य एवं नैतिकता की कोई गारण्टी नहीं होती। इसलिए अपने पुत्र-पुत्रियों की प्रत्येक प्रवृत्तियों की सूचना उन्हें अवश्य होनी चाहिए।
4. सन्तानों की उम्र बड़ी हो जाने पर एक ऐसा भी समय आता है कि प्रायः संताने अपने माता-पिता से सारी बातें नहीं बतलाती अथवा सत्य को छुपाने का प्रयास करती हैं ऐसे समय में माता-पिता को व्यर्थ के भ्रम में पड़ने के बजाय अपनी सन्तानों के विषय में व्यक्तिगत रूप से सारी जानकारी प्राप्त करते रहना चाहिए।
5. तरुणावस्था की उम्र अत्यधिक संवेदनशील होती है अथवा तीव्र संवेगात्मक होती है, जिसके कारण उस उम्र में तरुणों को उसके माता-पिता अथवा परिवार के अन्य सदस्यों का प्रेम मिलना ही चाहिए। जिस समय परिवार से उन्हें प्रेम नहीं मिलता, ऐसे समय में प्रेम की उम्मीद लिए पुत्र-पुत्री बाहर के प्रेम के लिए भटकना शुरू कर देते हैं। कभी कभी तो ऐसा होता है कि वे अपनी ही उम्र के व्यक्ति अथवा शिक्षक जैसे उन व्यक्तियों के सम्पर्क में आकर्षित हो जाते हैं, जिनके साथ वे अधिकतर समय व्यतीत करते हैं। वे उनसे प्रेम की अपेक्षा रखते हैं। ऐसी दशा में यदि सामने वाले व्यक्ति द्वारा थोड़ा-सा भी प्रेम प्रदर्शित होता है तो वे उन्हीं के हो जाते हैं। यहाँ न तो जाति और न धर्म के विषय में विचार होता है यहाँ प्रेम ही दिलोदिमाग में ब्लड की तरह शरीर में संचरित तीव्र गति से होता है। यही अवस्था सबसे खतरनाक अथवा संवेदनात्मक होती है। किन्तु खेद है कि माता-पिता इस वास्तविकता को नहीं समझ पाते और बिगड गये हैं कहते हुए अपने पुत्र-पुत्रियों को अपमानित और तिरस्कृत करते रहते हैं। परिणाम यह होता है कि समस्या और भी जटिल हो जाती है; जिसका निराकरण तिरस्कार में नहीं, प्रेम में है।
6. अपने पुत्र-पुत्रियों को प्यार दुलार करते समय प्रायः माता-पिता उन्हें गाड़ी, मोबाइल, फोन, कम्प्यूटर, इन्टरनेट आदि की

सुविधाएं दिया करते हैं। किन्हीं-किन्हीं परिस्थितियों में ये सारी वस्तुएँ जरूरी भी हो सकती हैं, परन्तु अधिकांशतः इन जरूरतों की अवगणना अथवा आकलन किया जा सकता है। फिर भी इन साधनों को उपलब्ध कराते समय माता-पिता को अधिक सजग और सावधान रहना चाहिए। उनके मोबाइल फोन का बिल कितना आता है ? वे किस समय, किसके साथ बातें करते हैं ? अथवा इन्टरनेट का वे क्या उपयोग करते हैं ? इन बातों के प्रति जानकार लोगों की मदद प्राप्त करके माता-पिता को इसकी पूरी जानकारी लेनी चाहिए।

7. इस अवस्था में 'पीअर प्रेशर' अथवा मित्रों का दबाव अत्यधिक होता है। माता-पिता को चाहिए कि उनके पुत्र-पुत्रियों पर यह जो नकारात्मक प्रभाव पड़ता है, उसे वे सकारात्मक (पॉजिटिव) प्रेशर में बदल दें, यही उनकी योग्यता की परीक्षा है। कहने का तात्पर्य यह है कि अच्छी और सही आदतों के लिए अच्छी और सच्ची प्रवृत्तियों के लिए अच्छे और सच्चे धार्मिक विधि-विधानों (या आप जिन क्रिया-कलापों में विश्वास करते हैं) आदि के लिए वे अपनी सन्तानों को सदैव जागरूक करते रहें। ऐसे वातावरण में आग्रह पूर्वक अपने पुत्र-पुत्रियों को ले जाना, माता-पिता की जिम्मेदारी होती है। यदि ऐसा करूँगा तो बुरा कहा जायेगा।' ऐसी दृढ़ मानसिकता 'सकारात्मक दबाव' (पॉजिटिव पीअर प्रेशर) से ही उत्पन्न की जा सकती है। उदाहरण स्वरूप अमेरिका में एक भारतीय सत्संगी की चौदह वर्षीय पुत्री ने विद्यालय में अपने मित्रों द्वारा मासाहार खाने का आग्रह करने पर उसने गर्व से कहा हम हिन्दू हैं और गंगा पन्थी हैं भगवान कृष्ण के उपासक हैं। हम वेजेटेरियन हैं और जीवहत्या करके मांस, अण्डा (नान वेजिटेरियन) खाना अपनी आत्मा स्वीकार नहीं करती इसे पाप समझते हैं गौरवपूर्ण उसका उत्तर सुनकर मित्रों ने फिर कभी उस पर दबाव नहीं डाला। उसे यह शक्ति कहाँ से प्राप्त हुई ? उसके घर मन्दिर तथा आध्यात्मिक सत्संग सभाओं और माता-पिता व गुरुओं के शैक्षणिक सत्संगों में से, हमारे पूर्वजों ने कहा है कि - "जैसा खाओगे अन्न वैसा बनेगा मन" उस लड़की के अन्दर ऐसी दृढ़ शक्ति का सिंचन किया गया था कि मेरे जैसे पांच सौ लड़के और लड़कियाँ हमारे सामाजिक परिवेश (शैक्षणिक संस्थाओं, सगे-सम्बन्धियों तथा पास-पड़ोस) में हैं, जो शुद्ध शाकाहारी हैं, मैं अकेली नहीं हूँ। यह एक सकारात्मक दबाव (पॉजिटिव पीअर प्रेशर) है। ऐसा ही सकारात्मक दबाव किशोर संतानों में स्त्री-पुरुष की सीमाओं के विषय में भी डालनी चाहिए। भारतीय हिन्दू समाज के विभिन्न धर्म गुरुओं, सामाजिक वेत्ताओं, सामाजिक वैज्ञानिकों तथा महापुरुषों के वचनानुसार और उनके मार्गदर्शन के कारण हजारों युवक युवतियों ने पिछले कुछ वर्षों से वेजेटेरियन (विशेष तौर पर नवरात्रि के समय में) खानपान की तरफ अग्रसर ही नहीं अपनाया भी है ताकि इन तामसी विकृतियों से दूर रह सकें।

यदि सार्वभौमिक दृष्टि से विश्लेषण किया जाये तो दुनिया में सबसे अधिक आयु वाले तथा स्वस्थ रहने वालों में शाकाहारी ही हैं। सकारात्मक दबाव का यह एक श्रेष्ठ उदाहरण है। कामुक प्रकार के वस्त्र और साहित्य इत्यादि नहीं पहनना और पढ़ना चाहिए। इससे समाज में टीनेजर पर विपरीत प्रभाव पड़ता है। इस बात से लेकर आध्यात्मिक सत्संग सभाओं, शैक्षणिक सभाओं में नियमित समयानुसार जब भी आप समय निकाल सकें जाना चाहिए एवं अच्छे साहित्य पढ़ने में रुचि रखना चाहिए। मैं इस बात से सभी टीनेजर बालिकाओं एवं युवा-युवतियों से आग्रह करना चाहूँगा कि चालीस से साठ वर्ष के महिला-पुरुष वर्ग से सावधान रहें, क्योंकि ये आयु वर्ग विशेष तौर से टीनेजर के लिए खतरनाक

होता है इसका अभिप्रायः यह नहीं कि उनपर विश्वास नहीं किया जाय, विश्वास करो परन्तु विश्वासअंधता में ही विश्वासघात होता है। इसलिए हम सभी विशेष तौर पर माता-पिता को सजग (Proactive) रहना चाहिए और अपने टीनेजर बच्चों को हर पहलू की निःसंकोच बातें बतानी चाहिए ताकि भविष्य में उनके समझ आने वाली इन आपदाओं से वे सतर्क रह सकें या उनका उपचार कर सकें, उन्हें जीवन की सच्ची राह दिखानी ही चाहिए। उसके लिए थोड़ा बहुत प्रेमपूर्वक हठाग्रह भी करना चाहिए। लेखक की नज़र में किशोरों की सुरक्षा का यही सच्चा मार्ग है।



शैफ्वान (नर्सरी स्कूल, जेएनयू)

ध्यान की विभिन्न पद्धतियों का ज्ञान एवं अभ्यास

अजय कुमार शास्त्री



आधुनिक युग में ध्यान का महत्त्व दिनोंदिन बढ़ता जा रहा है, इसलिए 'ध्यान' शब्द पूरे विश्व प्रसिद्ध विश्व में प्रसिद्ध है। चाहे व्यक्ति किसी भी धर्म-सम्प्रदाय का हो सभी अपने-अपने ढंग व प्रकृति के अनुसार ध्यान का अभ्यास कर रहे हैं, इसलिए आज ध्यान की बहुत सी पद्धतियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। वस्तुतः ध्यान का मुख्य उद्देश्य एक ही है चित्त शुद्धि और चेतना का विकास अन्य लाभ जैसे तनाव, हताशा, दुःख, क्रोध आदि से मुक्ति स्वतः ही होने लगती है।

ध्यान शब्द के लिए अंग्रेजी में मेडिटेशन (Meditation) शब्द प्रयुक्त हुआ है जिसका ठीक-ठीक अर्थ है मन को एक ही श्रेणी के विचारों की शृंखला पर एकाग्र करना। मन को एकाग्र करने का अर्थ है कि मन जो एक मशीन की तरह प्रतिक्षण विचार, कल्पना और स्मृति में खोया रहता है, इस आदत से मुक्ति दिलाना।

ध्यान कई प्रकार से होता है - जैसे :

- किसी एक स्थान पर शान्त बैठकर किसी बाह्य वस्तु का आलम्बर जैसे किसी सुन्दर दृश्य, चित्त, मन्त्र या संगीत (नाद) पर ध्यान कर सकते हैं।
- अपने श्वास-प्रश्वास, चक्र या आन्तरिक अंग, संवेदना आदि। हमारा श्वास वर्तमान का प्रतिनिधित्व करता है और मन को वश में करने का माध्यम है।
- अपने मन में प्रतिक्षण उठने वाले विचारों को दृष्टाभाव से देखते रहकर भी अपने विचारों पर नियन्त्रण कर सकते हैं।

1. षट् चक्रों पर ध्यान

हमारे शरीर में बहुत सी शक्ति केन्द्र हैं। ये मेरुदण्ड स्थित सुषुम्ना नाड़ी में स्थित हैं। इनमें सात चक्र हैं। इन चक्रों पर ध्यान करने से शक्ति का उर्ध्वगमन एवं विकास होता है। ये चक्र निम्न हैं :

- (क) **मूलाधार चक्र** : यह चक्र मेरुदण्ड के सबसे निचले भाग, गुदा एवं जननांग के मध्य स्थित है। इस चक्र के नीचे कुण्डलिनी शक्ति सुप्त अवस्था में स्थित है। इसकी चार पंखुड़ियाँ हैं जो पीले रंग की हैं। ध्यान नियमित रूप से करते रहने पर इस चक्र की शक्तियाँ उदय हो जाती हैं।
- (ख) **स्वाधिष्ठान चक्र** : यह चक्र मूलाधार से लगभग 4 अंगुल ऊपर की ओर मेरुदण्ड में स्थित सुषुम्ना नाड़ी में है, इसका कमल सिंदूर वर्ण एवं छः दलों वाला है।
- (ग) **मणिपूरक चक्र** : यह चक्र नाभि के पीछे सुषुम्ना में स्थित है। यह सभी शक्तियों का संगम स्थल है। इस चक्र का कमल नीला एवं दस दलों वाला है।
- (घ) **अनाहत चक्र** : यह चक्र हृदय प्रदेश में सुषुम्ना पर स्थित है। इस चक्र का कमल अरुण रंग एवं बारह दलों वाला है।

(च) **विशुद्धि चक्र** : इस चक्र की स्थिति कंठ प्रदेश में सुषुम्ना पर है। इस चक्र का कमल धूम्रवर्णीय एवं सोलह दल वाला है।

(छ) **आज्ञाचक्र** : यह चक्र दोनों भौहों के मध्य स्थित है। इसके कमल का रंग श्वेत तथा दो दल वाला है।

(ज) **सहस्रार चक्र** : यह चक्र सिर के ऊपरी भाग में तालू के स्थान तथा सुषुम्ना के अन्तिम छोर पर स्थित है। इस स्थान को ब्रह्मरन्ध्र कहते हैं। यह प्रकाशमय पुंज के रूप में शक्ति और विवेक को प्रदर्शित करता है।

ध्यान की विधि : अपने मन को मूलाधार चक्र पर केन्द्रित करें तथा अनुभव करें कि शक्ति जागृत हो रही है तथा शक्ति की उर्ध्वगमन प्रारम्भ हो गया है। इसी प्रकार अपने मन को स्वाधिष्ठान, मणिपूरक अनाहत, विशुद्धि एवं आज्ञाचक्र पर एक के बाद दूसरे पर ऊपर की ओर ले जाते हैं तथा शक्ति के उर्ध्वगमन की अनुभूति करते हैं।

ध्यान के नियमित अभ्यास से स्वतः ही सहस्रार पर शक्ति की अनुभूति होने लगती है।

2. ध्यान

प्रेक्षा ध्यान : प्रेक्षा ध्यान, जैन साधना पद्धति का अंग है जिसे हम जैन योगिक साधना कह सकते हैं। प्रेक्षा ध्यान का अर्थ है गहराई से देखना, अर्थात् स्थूल चेतना द्वारा सूक्ष्म चेतना को देखना, मन के द्वारा सूक्ष्म मन को देखना।

प्रेक्षा ध्यान का अभ्यास भिन्न-भिन्न स्तरों पर किया जाता है। मन, चेतना और आत्मा ये शरीर में ही स्थित हैं। इसलिए इनकी अनुभूति के लिए प्रेक्षा की साधना स्थूल शरीर से प्रारम्भ करते हैं तथा क्रमशः श्वास, मन और चैतन्य की अनुभूति करते हैं।

लेश्या ध्यान : लेश्या का अर्थ है रंगों पर ध्यान, रंग हमारे शरीर, मन, भावों और रोगों को प्रभावित करता है। शरीर में रंगों का सही अनुपात न होने पर शरीर रोग ग्रस्त हो जाता है। जैसे नीले रंग की कमी से क्रोधादि आवेग बढ़ जाते हैं। लाल रंग की कमी से शरीर में आलस्य आता है आदि।

रंगों पर ध्यान करके हम अन्तःस्रावी ग्रन्थियों को प्रभावित करते हैं जिससे मनुष्य के भाव जैसे क्रोध, ईर्ष्या, तनाव तथा विचारों में परिवर्तन आता है।

हमारे शरीर में बहुत सारे चैतन्य केन्द्र हैं। इनकी स्थिति रंग तथा प्रभाव निम्न हैं :

- दर्शन केन्द्र (दोनों आंखों के मध्य) - लाल रंग का ध्यान करने से आलस्य दूर होता है।
- ज्योति केन्द्र (माथे में तिलक का स्थान) - सफेद रंग का ध्यान करने से क्रोध या तनाव दूर होता है।

- ज्ञान केन्द्र (सिर का ऊपरी भाग) - पीले रंग का ध्यान करने से स्मृति विकास होता है।
- शान्ति केन्द्र - माथे के ऊपर तथा सिर के आगे का भाग पर सफेद रंग का ध्यान करने से मन शान्त होता है तथा तनाव, दुःख, चिन्ता पर नियन्त्रण होता है।
- शक्ति केन्द्र - मूलाधार चक्र (गुदा व जननांग के मध्य) लाल रंग का ध्यान करने से शरीर में स्फूर्ति व शक्ति का विकास होता है।

विपश्यना ध्यान

विपश्यना ध्यान की एक प्राचीन पद्धति है जिसे गौतम बुद्ध ने खोजा था। विशेष प्रकार से देखने की विधि का नाम विपश्यना है। विपश्यना स्वयं के अनुभव की एक प्रक्रिया है। यह अनुभूति स्वयं अपने भीतर उत्पन्न होती है। ध्यान की इस पद्धति के लिए बाहर से किसी वस्तु का सहारा लेने की आवश्यकता नहीं होती।

विपश्यना ध्यान का कम से कम 10 दिन का कोर्स करना होता है जो कि ध्यान केन्द्रों में रहकर ही किया जाता है। इसके लिए दस दिनों तक “आर्यमौन” (अर्थात् इशारों से भी बात न करना) का अभ्यास भी साथ-साथ किया जाता है।

विधि : पद्मासन या किसी भी ध्यानात्मक आसन में बैठकर सर्वप्रथम मन को श्वास-प्रश्वास पर साक्षी भाव से टिका दें। यह अभ्यास दिन दिनों तक किया जाता है इससे नासिका के नीचे तथा होठों के ऊपरी भाग में सूक्ष्म से सूक्ष्म संवेदना की अनुभूति होने लगती है। चतुर्थ दिन विपश्यना का अभ्यास प्रारम्भ होता है। मन को सिर से पैर पर क्रमशः ले जाते हैं और उसी प्रकार संवेदनाओं को दृष्टा भाव से प्रतिदिन देखते हैं। धीरे-धीरे मन इतना सूक्ष्म हो जाता है कि भीतर केवल कम्पन ही कम्पन अनुभूत होने लगता है। इसी अनुभूति के आधार पर भगवान बुद्ध ने दुनिया को बताया कि इस संसार में सभी कुछ अनित्य और दुःख रूप है।

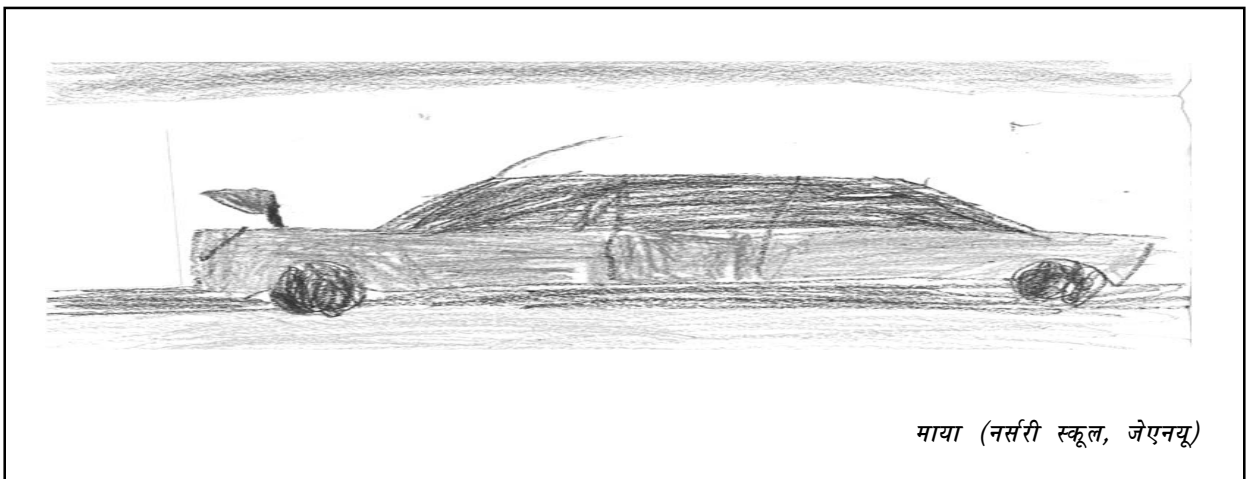
ध्यान द्वारा -

(क) सामाजिक महत्त्व : ध्यान के प्रतिदिन के अभ्यास से मनुष्य का शारीरिक, मानसिक और भावनात्मक विकास होता है

जिससे उसका दूसरों के प्रति व्यवहार बहुत ही संयमित और उच्च नैतिक मूल्यों पर आधारित होता है। वह सहज ही विषम परिस्थितियों में समायोजन कर लेता है। ध्यान की पराकाष्ठा में व्यक्ति के कर्म सात्त्विक होने लगते हैं, अर्थात् उसके सद्कर्म दूसरों के कल्याण के लिए होते हैं। ध्यान में नियमित अभ्यास से पंचकोषों पर प्रभाव पड़ता है, जिससे उसके व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास होता है :

- (1) शारीरिक विकास : ध्यान के प्रतिदिन के अभ्यास से मनुष्य का जीवन सात्त्विक होने लगता है उसका आहार, व्यवहार एवं विचार शुद्ध हो जाता है। जिससे वह शारीरिक स्तर पर संयमित एवं अनुशासित हो जाता है जो कि उसके शारीरिक विकास के लिए अनिवार्य है।
- (2) मानसिक विकास : ध्यान के नियमित अभ्यास से चेतना का विस्तार होता है, ईश्वर के प्रति समर्पण का भाग जागृत होता है जिससे मनुष्य में मानसिक गुण जैसे धैर्य, साहस, कर्तव्यपरायणता, ईमानदारी आदि सद्गुणों का विकास होता है। व्यक्ति आत्म-अनुशासित बनकर यम-नियमों का पालन करने लगता है।
- (3) भावनात्मक विकास : ध्यान के नियमित अभ्यास से नकारात्मक संवेगों का परिशोधन होने लगता है। क्रोध, ईर्ष्या, दुःख, विषाद आदि दुर्गुण दूर होने लगते हैं। मनुष्य के अन्दर आत्मिक विकास के साथ दूसरों के प्रति सहानुभूति, करुणा, दया के भाग जागृत हो जाते हैं।

(ख) आध्यात्मिक विकास : वस्तुतः आध्यात्मिक विकास का मार्ग केवल ध्यान व योग साधना ही है इसलिए योग किसी एक विशेष धर्म का ही नहीं बल्कि सभी धर्मों का मूल है। ध्यान की बहुत सी पद्धतियाँ जो सभी धर्मों के मानने वालों के लिए बनायी गयी हैं, आस्तिक, नास्तिक, प्रकृतिवादी, विज्ञानवादी सभी अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार किसी भी पद्धति का चुनाव कर सकते हैं तथा सांसारिक तनाव, दुःख, हताशा को दूर कर आनन्दमय जीवन व्यतीत कर सकते हैं।



माया (नर्सरी स्कूल, जेएनयू)

फिक्र भी है और आईना भी

विजय कुमार



जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के नॉर्थ गेट से कुछ कदम अन्दर आते ही, जहाँ सबसे पहले नजर जाती है वह है गंगा ढाबा। शुरुआती दृष्टि में गंगा ढाबा किसी अर्ध-पहाड़ी कस्बे के एक बेहद आम या किसी पुराने पड़ गए चाय-नमकीन की दुकान जैसा दिखता है। सबकुछ अस्त-व्यस्त सा पर शांत और स्थिर। राष्ट्रीय राजधानी दिल्ली के किसी केंद्रीय विश्वविद्यालय में इस तरह की चाय-नमकीन दुकान से साबका दिल्ली में छात्रों का पहली बार पड़ता है। यों तो दिल्ली के केंद्रीय शिक्षा संस्थानों के आस-पास कुछ रेहड़ी-पटरी वाले दुकान अमूमन मिल जाते हैं पर वह सब गंगा ढाबा नहीं हो पाते हैं। उसका कारण है कि गंगा ढाबा अपने ताने-बाने में एक ऐसे 'ऑर्गनिक स्ट्रक्चर' के रूप में हम सबके सामने आता है जिसे देखते ही ऐसा लगता है जैसे 'नेसकैफे-सीसीडी-स्टारबस्ट' जैसी कॉर्पोरेट दुकानों की बढ़ती बाजार संस्कृति में हमारे लिए भी, अपनी दुनिया की कोई जगह है, जहाँ हम मर्जी-बेमर्जी की बातों के साथ बेफिक्र बैठ सकते हैं। बबूल के पेड़ों की ओट में अपनी वस्तुस्थिति और सरंचना के साथ गंगा ढाबा सहानुभूति पैदा करता है, परस्पर अपने यहाँ आने वाले छात्रों के साथ तुरंत तालमेल बैठा लेता है। उन्हे आक्रांत नहीं करता बल्कि सुकून देता है। अपने स्टूलनुमा पथरों के साथ गंगा ढाबा सहमे-सहमे छात्रों का सहमापन तोड़ देता है और बहुत कुछ को मुमकिन बनाने कि शुरुआत यही से हो जाती है। 'ऑर्गनिक स्ट्रक्चर' की एक विशेषता होती है कि वह मानव और प्राकृतिक दुनिया के बीच सद्भाव को बढ़ावा देता है और गंगा ढाबा अपने सामाजिक-राजनीतिक नजरिए में जेएनयू में यही कार्य करता है।

गंगा ढाबा आजकल फिर से अखबारों की सुर्खियों में है, कारण है उसके अचानक बंद होने की खबर। कई बार ऐसी खबरें पूरी सच नहीं होती! गंगा ढाबा कैसे बंद हो सकता है? पर राष्ट्रीय अखबारों के दिल्ली संस्करण में यह खबर प्रमुखता से छपती है "33 साल पुराना गंगा ढाबा बंद होने के कगार पर।" गंगा ढाबा के बंद होने की खबर सोशल मीडिया में भी खूब चर्चा में रही। गंगा ढाबा की इस तरह की खबरों के साथ एक बात जो महत्वपूर्ण तौर पर उभरकर सामने आती है वह है गंगा ढाबा और उससे मोहब्बत करने वालों की आशिकी। वे उसकी आशिकी में इतने पग हो चुके हैं कि, वह गंगा ढाबा को बंद होते नहीं देखना चाहते हैं। यह उनका जेएनयू से प्यार भी है जो उन्हें तुरंत गंगा ढाबा के बहाने विश्वविद्यालय की गतिशील चेतना से जोड़ देता है।

अमूमन हरेक साल जेनयू में एक चौथाई विद्यार्थी बदल जाते हैं। आने वाले विद्यार्थियों में कुछ लोगों का गंगा ढाबा से पहले भी

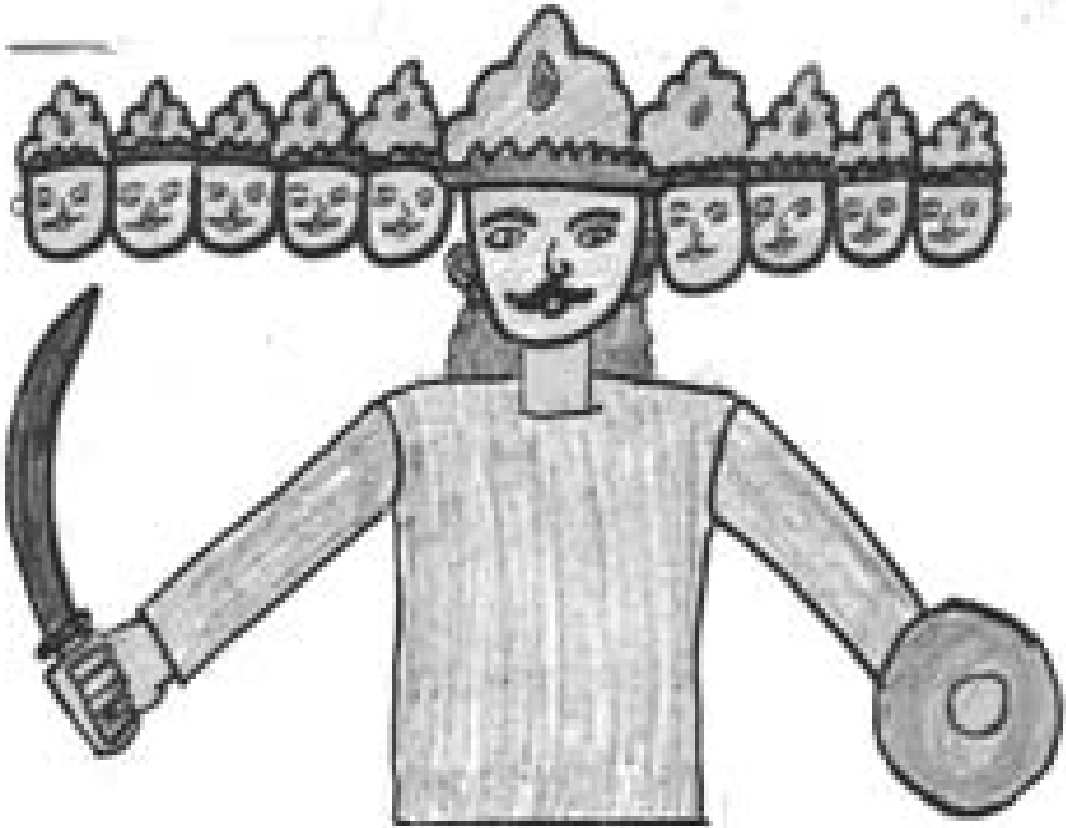
सामना हो चुका होता है पर अधिकतर ऐसे विद्यार्थी होते हैं जो कैम्पस में दाखिला लेने के बाद जब क्लासेस शुरू होती हैं तभी उनका सामना बरसाती शाम के समय गंगा ढाबा से होता है। कैम्पस में दिन गुजरने के साथ छात्र जैसे-जैसे गंगा ढाबा के अनुभव से दो-चार होने लगते हैं वैसे-वैसे गंगा ढाबा जेहन का एक जरूरी हिस्सा बनता चला जाता है और लोग 'गंगा ढाबा करने' लगते हैं। जब शाम का धुंधलका बढ़ने लगता है तब ऐसे चेहरों को भी रोजाना गंगा ढाबा पर देखा जाता है जो जेनयू के पुराने हिस्सेदार के बतौर यहाँ आते रहते हैं 'गंगा ढाबा करने'। यों तो जेएनयू में 'ढाबा कल्चर' संजीदगी के साथ जिंदा है और जेएनयू में गंगा ढाबा के अलावा और भी ढाबे हैं पर गंगा ढाबा अपने कलेवर में एक ऐसे राजनीतिक स्पेस की रचना करता है जो इसे जेएनयू में और जेएनयू के बाहर और भी महत्वपूर्ण बना देता है। जेएनयू अपनी अकादमिक गतिविधियों के साथ-साथ छात्र-राजनीति के जरिये देश में राजनीतिक-वैचारिक प्रतिबद्धता के लिए भी जाना जाता है। गंगा ढाबा अपनी भूमिका के साथ जेनयू की छात्र-राजनीति में मौजूद रहता है, अपने अनगढ़ और ऊटपटांग पथरों के साथ। जेएनयू के राजनीतिक वातावरण में गंगा ढाबा और झेलम लान की बड़ी महत्ता है। हर साल इसी गंगा ढाबा के सामने के झेलम लान से प्रेसिडेंसियल भाषण होता है और इधर ढाबा की चर्चाओं से तय होता चला जाता है कि स्टूडेंट यूनियन से इस बार किस तरह के नारों की नूर गंगा ढाबा पर बबूल की पत्तियों के साथ बरसेंगे। चाहे कैम्पस में या देश भर के अलग-अलग मुद्दों पर मार्च निकालने की बात हो या फिर विभिन्न मुद्दों पर कैम्पस के बाहर जाकर विरोध प्रदर्शन करना हो, सबकी शुरुआत गंगा ढाबा से होती है।

जेएनयू के बारे में कहा-सुना जाता है कि यहाँ की असली पढ़ाई क्लास रूम में नहीं उसके बाहर होती है। यहाँ के पर्चे, दीवारों पर लगे पोस्टर जो भिन्न-भिन्न विचारधाराओं से परिचय कराते रहते हैं और उसके बाद ढाबे पर होने वाले सियासी बहस-मुबाहिसे का कोई जोर नहीं। गंगा ढाबा इन बहसों का सबसे केंद्रीय स्थल है। शाम चार बजे गंगा ढाबा खुलने के साथ शुरू होने वाली बातचीत का दौर दुकान के बंद होने के बाद भी गंगा ढाबा पर बदस्तूर जारी रहता है। इन बातों में मार्क्स, लेनिन, अंबेडकर, भगत सिंह, राष्ट्रवाद के साथ-साथ देश-दुनिया कि बातें, कैम्पस की गतिविधियों पर भी खूब चर्चा होती रहती है। स्वाद को बारंबार अंगूठा दिखाने वाली चाय की चुसकियों के साथ बहसे तेज हो जाती हैं पर गंगा ढाबा इसे बहसों तक ही सीमित रखता है उसे

किसी और दूसरा रूप नहीं लेने देता। इन बहसों में विचारों के साथ तथ्य का भी पुट होता है जो किन्ही बातों से शुरू हुई बहस को इल्म का जामा पहना देते हैं। जेनयू के छात्रों के लिए गंगा ढाबा उस गुप्तगू का भी गवाह बनता है जिसमें दोस्ती से प्रेम तक का सफर तय होता है। चाय से शुरू हुयी दोस्ती गंगा ढाबा के आलू पराँठे और एकरस स्वाद वाले सब्जी में अपने जीवन का स्वाद खोजने लगती है।

रात के अंधेरे में गंगा ढाबा फुसफुसाता है आगाह करते हुये सोचो, सोचो तुम्हारा फर्ज क्या है? गंगा ढाबा जिस प्रकार अपने वजूद को प्रशासनिक और पूंजीवादी हमलों के बावजूद खुद को

छात्रों के लिए बनाकर रखा है, बचाकर रखा है, वह उसे एक आलोचक कि भूमिका प्रदान कर देता है। इस बाजारू और पूंजीवादी संस्कृति में गंगा ढाबा पिछले तैतीस सालों में भी अपने को छात्रों के अनुसार ही बना कर रखा है, उनकी जरूरतों के अनुसार ही खुद को ढाल रखा है। कहीं कोई मिलावट नहीं। गंगा ढाबा अपनी समझदारी में, उपस्थिति में यह समझ विकसित करता है की विपरीत हालातों में भी खुद को सक्रिय रखना होगा, झुकना नहीं होगा। दिखने में कविता के बिम्ब-सा, पूछने पर कहानी की किसी घटना-सा और जानने पर उपन्यास-सा फैलाव लिए गंगा ढाबा खुला है बदस्तूर।



अनन्या (नर्सरी स्कूल, जेएनयू)

जॉस्टिन गार्डर के 'सोफी का संसार' का लोकार्पण

नार्वे के सुप्रसिद्ध लेखक जॉस्टिन गार्डर की बेस्टसेलर किताब 'सोफी वर्ल्ड' का पहली बार हिंदी में अनुवाद 'सोफी का संसार', भाई वीर सिंह साहित्य सदन में किया गया। राजकमल प्रकाशन द्वारा प्रकाशित किताब के लोकार्पण समारोह में मुख्य अतिथि थे इतिहासकार सुधीर चन्द्र, प्रोफेसर सत्यपाल गौतम, प्रोफेसर अनिल भट्टी एवं राजकमल प्रकाशन समूह के प्रबंध निदेशक अशोक माहेश्वरी। प्रो. सत्यपाल गौतम 'सोफी का संसार' के अनुवादक एवं संपादक हैं। कार्यक्रम का संचालन अम्बेडकर यूनिवर्सिटी में सहायक प्रोफेसर मृत्युंजय ने किया।



दर्शन की जटिलताओं को बहुत ही आसान और मजेदार किस्सों में पाठकों के सामने लाती किताब 'सोफी वर्ल्ड' का अबतक विश्व की 60 भिन्न भाषाओं में अनुवाद हो चुका है। सोफी का संसार एक रहस्यपूर्ण और रोचक उपन्यास है। साथ ही पश्चिमी दर्शन के इतिहास और दर्शन की मूलभूत समस्तियों के विश्लेषण पर एक गहन तथा अद्वितीय पुस्तक भी। आधुनिक भारत के प्रसिद्ध दार्शनिक प्रोफेसर दयाकृष्ण के अनुसार दो प्रश्नों को सार्वभौमिक स्तर पर दर्शन का मूलभूत प्रश्न कहा जा सकता है। पहला प्रश्न है 'मैं कौन हूँ?' और, दूसरा है 'यह विश्व अस्तित्व में कैसे आया?' अन्य दार्शनिक प्रश्न इन्हीं दो मूल प्रश्नों के साथ जुड़े हुए हैं। इन प्रश्नों से पाठक का परिचय उपन्यास के पहले ही अध्याय में एक रहस्यात्मक और रोचक प्रसंग के माध्यम से हो जाता है। किसी जटिल सैद्धांतिक रूप में प्रस्तुत करने की बजाय 14-15 वर्ष की किशोरी सोफी को दैनिक जीवन के व्यावहारिक स्तर पर इन प्रश्नों को पूछने के लिए प्रेरित किया गया है। विश्व के अनेक दार्शनिकों और विचारकों ने इन प्रश्नों पर गम्भीर चिंतन किया है। 'सोफी का संसार' पाश्चात्य दार्शनिक जिज्ञासाओं के 2500 वर्ष लंबे इतिहास को स्मृति, कल्पना तथा विवेक के अद्भुत संयोजन के माध्यम से प्रस्तुत करता है। सुकरात से पहले के दार्शनिकों येल्लस, ऐनेक्सीमांदर, ऐनेक्सीमेनीज, परमेनिडीज, हैरेक्लाइटस, डेमोक्रीटीस आदि की चर्चा से प्रारम्भ करते हुए यह उपन्यास अफलातून (प्लेटो), अरस्तू, आगस्तीन, एक्विनाज, देकार्त, स्पिनोजा, लाइब्निज, लॉक, बर्कले, ह्यूम, कांट, हेगेल, किर्कगार्ड, मार्क्स, डारविन तथा सात्र तक सभी महत्वपूर्ण दार्शनिकों की जिज्ञासाओं तथा चिंतन-विधियों की विश्लेषणात्मक समीक्षा प्रस्तुत करता है।

- योगेश भट्ट और शिवम शर्मा

अमृतलाल नागर की जन्मशती पर आयोजन

हिंदी के प्रसिद्ध लेखक अमृतलाल नागर की जन्मशती वर्ष के उपलक्ष्य में जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के भारतीय भाषा केन्द्र द्वारा एक परिचर्चा का आयोजन किया गया। इस आयोजन में प्रो. ऋचा नागर द्वारा संपादित 'मैं और मेरा मन: शरद नागर' पुस्तक और 'आजकल' पत्रिका के अमृतलाल नागर जन्मशती विशेषांक (अगस्त 2016) का विमोचन किया गया। इस आयोजन में दिए गए अपने मुख्य वक्तव्य में भारतीय भाषा केन्द्र के प्रोफेसर रामबक्ष ने कहा कि अमृतलाल नागर हिंदी के बहुअनुदित और क्लासिकल लेखक हैं, उनकी रचनाओं का अनुवाद भारत की कई भाषाओं में हुआ है। उन्होंने कहा कि नागर जी प्रेमचंद की यथार्थवादी लेखन की परंपरा के लेखक हैं, जिसकी पहचान रामविलास शर्मा को थी। नागर जी की किताबों में इतिहास की जानकारी का बहुत बड़ा हिस्सा है। दरअसल, वे अपने जमाने में पाठकों को इतिहास की जानकारी देने का प्रयास भी करते थे।



कार्यक्रम में अमृतलाल नागर के परिजन श्रीमती विभा नागर, प्रो. ऋचा नागर एवं डॉ. दीक्षा नागर भी उपस्थित थीं। विभा नागर ने अपने आत्मीय वक्तव्य में नागर जी को याद करते हुए कहा कि वे सरल और सहज व्यक्ति थे। उनके लेखन और काम को आगे बढ़ाना हमारा उद्देश्य है। प्रो. ऋचा नागर ने कहा कि नागर जी के लेखन का मूलमंत्र परकाया प्रवेश था। उनके सिद्धांत उनके जीवन के हिस्सा थे। उन्होंने कहा कि हम हमारे दादा (अमृतलाल नागर) और पिता (शरद नागर) के साहित्य को जन-जन तक पहुँचाने का काम कर रहे हैं। उन्होंने 'मैं और मेरा मन: शरद नागर' के एक अंश का पाठ भी किया। डॉ. दीक्षा नागर ने कहा कि अमृतलाल नागर व्यक्ति नहीं, संस्था थे। वे जिस तरह लोगों और दुनिया के सरोकारों से जुड़े थे, यह उन्हें संस्था ही बनाता है। उन्होंने नागर जी की रचना-प्रक्रिया पर बात करते हुए उनके लेखन के शुरुआती दिनों की बातें बताईं।

कार्यक्रम की अध्यक्षता करते हुए प्रो. देवेन्द्र चौबे ने कहा कि नागर जी की इतिहास में बहुत रूचि थी। उनके जैसे लेखकों की रचनाओं में भारत को देखने का नजरिया और देश के समाज, राजनीति, इतिहास, दर्शन का दस्तावेजीकरण दिखाई देता है। ऐसे लेखक ही क्लासिकल लेखक बनते हैं। उन्होंने कहा कि नागर जी के लेखन में पूरा भारत दिखाई देता है। स्वागत वक्तव्य देते हुए भारतीय भाषा केन्द्र के अध्यक्ष प्रो. एस.एम. अनवार आलम ने कहा कि नागर जी को पढ़ना अपने इतिहास से गुजरने की तरह है। उन्हें आज और ज्यादा पढ़ा जाना चाहिए। धन्यवाद ज्ञापन करते हुए प्रो. पुरुषोत्तम बिलिमाले ने कहा कि नागर जी की रचनाएँ आज भी प्रासंगिक हैं। कन्नड़ में भी उनकी रचनाएँ अनुदित हैं और पढ़ी जाती हैं।

- नीलमणी भारती

जेएनयू में वैज्ञानिक और अर्थशास्त्रियों का सम्मेलन आयोजित

किसी भी देश की अर्थव्यवस्था के मानक सकल घरेलू उत्पाद में उस देश की वैज्ञानिक उन्नति का महत्वपूर्ण योगदान होता है और यह बात हमारे देश की अर्थव्यवस्था पर भी लागू होती है। यह विचार जानेमाने वैज्ञानिक, इसरो के पूर्व अध्यक्ष एवं जेएनयू के कुलाधिपति डॉ. के. कस्तूरीरंगन ने एल्युमनी एसोसिएशन ऑफ जेएनयू (आज) द्वारा आयोजित वैज्ञानिक सम्मेलन में व्यक्त किये। अपने मुख्य भाषण में उन्होंने भारत की विज्ञान नीति से संबंधित मुख्य मुद्दों को चिन्हित करते हुए कहा कि विज्ञान और तकनीक के विकास के लिए अखिल भारतीय दृष्टिकोण अपनाया जाना चाहिए। उन्होंने विज्ञान और तकनीक के विकास के लिए तीन मूलभूत चरणों को महत्वपूर्ण माना - पहला आर्थिक विकास, दूसरा औद्योगीकरण एवं तीसरा नई योजनाएँ।

एल्युमनी एसोसिएशन ऑफ जेएनयू (आज) ने 30 और 31 जुलाई को क्रमशः भारत की आर्थिक नीति पर अर्थशास्त्रियों के सम्मेलन और भारत की विज्ञान नीति पर वैज्ञानिकों का सम्मेलन आयोजित किया। पहले दिन आयोजित अर्थशास्त्रियों के सम्मेलन में प्रसिद्ध अर्थशास्त्री प्रो. बिनोद खदरिया ने आर्थिक नीतियों के विस्तार पर बात करते हुए उच्च-शिक्षा और बेरोजगारी पर अपनी वक्तव्य केन्द्रित किया। स्वतंत्र भारत की आर्थिक नीति के सार्वजनिक क्षेत्र से निजी क्षेत्र में परिवर्तित होने से अवगत कराते हुए कहा कि असमान वृद्धि की ओर बढ़ता भारतीय विकास बेरोजगारी वृद्धि है। भारतीय उच्च शिक्षा क्षेत्र के साथ-साथ बेरोजगारी क्षेत्र भी बढ़ रहे हैं जो शिक्षित बेरोजगारों के लिए है। इसलिए भारतीय अर्थव्यवस्था के सामने रोजगार की आवश्यकता महत्वपूर्ण चुनौती है।

अगले व्याख्यान में अर्थशास्त्री और आर्थिक और योजना अध्ययन केन्द्र 'जेएनयू' के अध्यक्ष प्रो. प्रवीण कुमार झा ने कहा कि आज भारतीय अर्थव्यवस्था में नीति का ही अभाव है। आज के युग में भारतीय अर्थव्यवस्था नीति से नहीं, बल्कि बाजार से चलती है। विकास की अवधारणा पर बात करते हुए उन्होंने कहा कि विकास समावेशी होना चाहिए जिसमें सभी वर्गों के हित समाहित होने चाहिए। समावेशी विकास अभाव में उन्होंने विकास पर सवाल करते हुए कहा कि वर्तमान में विकास के परिमाण और इसकी प्रविधि ही बदल दी गई है। प्रो. एन.वी. वर्गीश ने प्रतिभा पलायन को केन्द्र में रखते हुए कहा कि भारत उत्पादन के साथ-साथ उत्पादन सेवाएँ भी निर्यात कर रहा है। उन्होंने मानव पूँजी को प्रवास से जोड़ा और कहा कि आधुनिक समय में प्रवास स्थायी की अपेक्षा अस्थायी अधिक हो रहा है।

इनसे पहले जेएनयू के रेक्टर प्रो. चिन्तामणि महापात्र ने अपने उद्घाटन भाषण में भारतीय अर्थव्यवस्था पर प्रकाश डालते हुए कहा कि आर्थिक नीति राजनीति से जुड़ी हुई है। प्रत्येक आम

व्यक्ति एक अर्थशास्त्री है क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति कहीं न कहीं अर्थ से जुड़ा है। उन्होंने भारतीय आर्थिक नीति का विकास बताते हुए बताया कि एक समय में जो देश 'दूध पाउडर' तक आयात करता था वो आज चावल, चीनी का दूसरा सबसे बड़ा देश है। तकनीकी ज्ञान से अछूता भारत देश आज आई.टी. का सबसे बड़ा क्षेत्र है। इसका श्रेय उन्होंने उदारीकरण को दिया। कार्यक्रम का आरम्भ एसोसिएशन की कार्यकारी परिषद के सदस्य और अर्थशास्त्रियों के सम्मेलन के संयोजक प्रो. अनिसुर रहमान (जामिया मिल्लिया इस्लामिया) के स्वागत वक्तव्य से हुआ। उन्होंने कहा कि देश की आर्थिक स्थिति और वर्तमान आर्थिक नीति के मद्देनजर भावी आर्थिक नीति के सूत्र रेखांकित करना इस सम्मेलन का उद्देश्य है। सह-संयोजक और राष्ट्रीय शिक्षा एवं योजना विश्वविद्यालय की प्रोफेसर आरती श्रीवास्तव ने कार्यक्रम की रूपरेखा प्रस्तुत की और धन्यवाद ज्ञापन किया।

भारत की विज्ञान नीति पर आयोजित वैज्ञानिकों के सम्मेलन में हैदराबाद विश्वविद्यालय के पूर्व उपकुलपति प्रो. एस.ए. हसनैन ने कहा कि बीमारियों की रोकथाम और उपचार को वैज्ञानिक नीतियों में महत्वपूर्ण स्थान देना चाहिए। उन्होंने कहा कि भारत विज्ञान की दृष्टि से अब भी पिछड़ा हुआ और विज्ञान को आगे बढ़ाने के लिए अवश्य ही इसे सामाजिक विज्ञान के साथ जुड़ना होगा। वैज्ञानिक शिक्षा की बात करते हुए प्रो. हसनैन ने कहा कि अन्य देशों की अपेक्षा भारत विश्वविद्यालयों पर खर्च बहुत कम होता है। जेएनयू के कुलपति प्रो. एम. जगदीश कुमार ने इस सम्मेलन का उद्घाटन करते हुए कहा - विज्ञान नीति का केन्द्र नवीनीकरण होना चाहिए। उनकी दृष्टि में यह भारत के सामाजिक और आर्थिक विकास की बढ़ोत्तरी और सामाजिक समस्याओं को सुलझाने वाला है। उन्होंने कहा कि देश का वैज्ञानिक अनुसंधान उच्च गुणवत्ता का होना चाहिए जिससे कि देश अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सके। वैज्ञानिकों के सम्मेलन के संयोजक एवं आज की कार्यकारी परिषद के सदस्य डॉ. प्रवीण वर्मा ने भारत के वैज्ञानिक परिदृश्य और इसकी विज्ञान नीति पर प्रकाश डालते हुए कहा कि हमारा उद्देश्य वर्तमान नीति का विश्लेषण करते हुए भारत की भावी विज्ञान नीति की संभावनाएँ तलाशना है।

इस आयोजन में एल्युमनी एसोसिएशन ऑफ जेएनयू के न्यूजलेटर के दूसरे अंक का विमोचन किया गया। आज के अध्यक्ष प्रो. देवेन्द्र चौबे ने आज की गतिविधियों का विवरण देते हुए कहा कि एसोसिएशन का उद्देश्य जेएनयू के वर्तमान और पुराने विद्यार्थियों के बीच औपचारिक संवाद को बढ़ाना है और इसके लिए हम नियमित रूप से अकादमिक आयोजन करते रहते हैं। कार्यक्रम में सतीश चंद, अरुण शर्मा, वेद मित्र, उदय कुमार, एन. रघुराम, वाई. माधुरी, इशितयाक अहमद, सरोज, रणवीर कुमार, मीता नारायण, एमएम कुंजु, प्रो. के.पी. विजयालक्ष्मी, बी.सी. त्रिपाठी, ए.पी. डिमरी, ए.एल. रामनाथन. आई.एस. ठाकुर, रंजना आर्या,

राकेश त्यागी, निरंजन चक्रवर्ती, गोपालजी गोपाल, विकास राय, कमल कुमार, रत्नेश ठाकुर, धनंजय राय, नसीर एहतेशाम, सुमन धर, राकेश वर्मा, राजेश कुमार, के नटराजन, नुसरत जुबीन सिद्दिकी, सरफराज अहमद, उदय शंकर, नीलिमा मंडल, राणा प्रताप सिंह, संदेशा रायपा, आर सुरेश वर्मा, साई बाबा, मनीष गुप्ता, प्रणव कुमार, दीपक सिंह, अभय प्रताप सिंह, शिवशंकर, धीरज कुमार सिंह, नरेंद्र ठाकुर, महेन्द्र प्रकाश, निधि सादना सभरवाल, सौमेन चट्टोपाध्याय, विनोद खादरिया, सय्यद मुबीन जहरा, अंजलि तनेजा, अनुनीता मित्रा, वर्तिका कौशल, अपराजिता, पॉल रोजारिया, रंजना अग्रवाल, अस्मी रजा, अखलाक अहमद, इंद्राणी राय चौधरी, अजय यादव सहित कई छात्र-छात्राओं ने हिस्सा लिया।

- अनिसुर रहमान, प्रवीण वर्मा, मिनाक्षी और निशा

साहित्य लोगों को सहिष्णु बनाता है : उदय प्रकाश

‘साहित्य सिर्फ कहानी नहीं कहता है, वह लोगों को सहिष्णु और संवेदनशील बनाता है। हो सकता है कि सहिष्णु बनाने की यह प्रक्रिया बहुत ही छोटे स्तर पर हो।’ ये विचार चर्चित लेखक उदय प्रकाश ने व्यक्त किए। वे जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय के एल्युमनी एसोसिएशन का तीसरा सालान

व्याख्यान दे रहे थे। उन्होंने कहा कि साहित्य अपने समय की अर्थव्यवस्था भी समझाता है। उपन्यास की अवधारणा पर बात करते हुए उदय प्रकाश ने कहा कि यूरोप में भले ही अर्थव्यवस्था को अभिव्यक्त करने वाली विधा है। अपने व्याख्यान में उन्होंने वर्तमान समय में लेखक की असुरक्षा के प्रसंग पर कहा की आज हमारी भाषा में लेखक का हिस्सा कम हो गया है। यह चिन्ताजनक स्थिति है और इसी के कारण समाज में लेखक के हालात पर कोई खास ध्यान नहीं दिया जाता है। अपने जेएनयू के दिनों को याद करते हुए उन्होंने यहाँ की अंतरानुशासनात्मक अध्ययन की प्रशंसा की। एसोसिएशन के अध्यक्ष देवेन्द्र चौबे ने कहा की उदय प्रकाश कहानी कहने की शैली में तो अनूठे हैं ही, लेकिन उनके कथा संसार की संवेदना इतनी व्यापक है की समाज का कोई तबका उससे नहीं छूटता है। समकालीन समाज के वे अद्भुत कथाकार है। उन्होंने एसोसिएशन की गतिविधियों का परिचय भी दिया। एसोसिएशन के उपाध्यक्ष राजेश कुमार ने धन्यवाद ज्ञापित करते हुए उदय प्रकाश के साहित्य की प्रासंगिकता बताई। व्याख्यान के बाद हुई परिचर्चा में मणीन्द्र नाथ ठाकुर, दुर्गाप्रसाद गुप्त, अखलाक आहन, जैनेन्द्र कुमार सहित कई लोगों ने भाग लिया।

— प्रणव कुमार, सचिव, एल्युमनी, एसोसिएशन, जेएनयू

नए प्रकाशन



भिखारी ठाकुर : प्रतिरोध का लोकस्वर : जितेन्द्र यादव । यह पुस्तक प्रसिद्ध लोक रंगकर्मी भिखारी ठाकुर के जीवन और साहित्य का गंभीर विश्लेषण करती है । प्रकाशक : आरोही प्रकाशन, दिल्ली, वर्ष : 2014, मूल्य 120/- ISBN : 978 93 81883

हमारे समय का साहित्य : देवेन्द्र चौबे (सं.) । यह पुस्तक हिंदी के समकालीन कवियों, कथाकारों और विचारकों के लेखन के बहाने समकालीन समय और साहित्य के यथार्थ पर विचार करने का गंभीर प्रस्ताव करती है ।

प्रकाशक : प्रकाशन संस्थान, दिल्ली, वर्ष : 2016, मूल्य 500/- ISBN : 978-81-7714-515-1



अपने-अपने धरातल : तारा नेगी । यह प्रसिद्ध कहानीकार तारा नेगी की कहानियों का तीसरा संग्रह है ।

प्रकाशक : सुभदा प्रकाशन, दिल्ली, वर्ष : 2015, मूल्य 200/- ISBN : 978-93-81-88459-97-1

चीजों के प्रति : पाब्लो नेरूदा, अनुवाद : गंगाप्रसाद विमल, सहयोग : अपराजित चट्टोपाध्याय । विश्व साहित्य के प्रसिद्ध लेखक पाब्लो नेरूदा की कविताओं का यह महत्वपूर्ण संचयन है । प्रकाशक : प्रकाशन संस्थान, दिल्ली, वर्ष : 2016, ISBN : 978-93-82848-89-9



महिषासुर : एक जननायक : संपादक : प्रमोद रंजन । समकालीन विमर्श की यह एक महत्वपूर्ण पुस्तक है । प्रकाशक : द मार्जिनलाइज्ड, वर्धा, महाराष्ट्र, वर्ष : 2016, मूल्य 100/- ISBN : 978-81-932584-1-5

सोचने पे पहरा है : अखलाक आहन । यह हमारे समय की एक महत्वपूर्ण काव्य पुस्तक है । प्रकाशक : नयी किताब, दिल्ली, वर्ष : 2014, मूल्य 100/- ISBN : 978-93-82821-58-8



शिकजे का दर्द : दलित एवं नारी मुक्ति का यथार्थ दस्तावेज : देवेन्द्र चौबे, विष्णु सरवदे (सं.) । यह दलित एवं नारी विमर्श की महत्वपूर्ण पुस्तक है । प्रकाशक : शिल्पायन, दिल्ली, वर्ष : 2016, मूल्य 750/- ISBN : 978-93-81610-74-9

प्रतिबंधित हिंदी कविताएं : सात क्रांतिकारी ज़ब्तशुदा काव्य संग्रह : मधुलिका बेन पटेल : यह पुस्तक भारतीय भाषा केन्द्र में किए गए शोध का उत्कृष्ट उदाहरण है । प्रकाशक : स्वराज प्रकाशन, दिल्ली, वर्ष : 2016, मूल्य 495/- ISBN : 978-93-83513-54-3



“विश्वविद्यालय की विशेषताएँ होती हैं : मानववाद, सहिष्णुता, तर्कशीलता, विचार का साहस और सत्य की खोज। विश्वविद्यालय का काम है उच्चतर आदर्शों की ओर मनुष्य जाति की सतत यात्रा को संभव करना। राष्ट्र और जनता का हित तभी हो सकता है जब विश्वविद्यालय ठीक से अपने दायित्वों का निर्वाह करें।”

- जवाहरलाल नेहरू

परिसर वीथिका



1



2



3



4



5

1. गणतन्त्र दिवस (26 जनवरी, 2016) के अवसर पर जेएनयू के कुलपति प्रो. सुधीर कुमार सोपोरी और नवनियुक्त कुलपति प्रो. एम. जगदीश कुमार ध्वजारोहण करते हुए।
2. जेएनयू नर्सरी स्कूल के वार्षिक कार्यक्रम 2016 में बच्चों और आयोजकों के साथ जेएनयू के कुलपति प्रो. एम. जगदीश कुमार।
3. जेएनयू एल्युमनी एसोसिएशन द्वारा आयोजित अर्थशास्त्रियों के सम्मेलन 2016 में जेएनयू के कुलदेशिक प्रो. चिन्तामणि महापात्र, एसोसिएशन के अध्यक्ष प्रो. देवेन्द्र चौबे और संयोजक डॉ. अनीस-उर-रहमान तथा प्रतिभागी।
4. जेएनयू एल्युमनी एसोसिएशन का तीसरा वार्षिक व्याख्यान 2015 देते हुए प्रसिद्ध कथाकार उदय प्रकाश।
5. विश्व योग दिवस (21 जून) के अवसर पर योगासन करते विश्वविद्यालय समुदाय के सदस्य।
6. जेएनयू एल्युमनी एसोसिएशन द्वारा आयोजित वैज्ञानिकों के सम्मेलन 2016 में जेएनयू के कुलाधिपति प्रो. के. कस्तूरी रंगन, कुलपति प्रो. एम. जगदीश कुमार, एसोसिएशन के अध्यक्ष प्रो. देवेन्द्र चौबे, एल्युमनी सलाहकार प्रो. के.पी. विजयलक्ष्मी और संयोजक डॉ. प्रवीण कुमार वर्मा तथा प्रतिभागी।



6

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के लिए कुलसचिव डॉ. प्रमोद कुमार द्वारा प्रकाशित।

मुद्रक : अलकनन्दा एडवरटाइजिंग प्रा. लि., ओखला इंडस्ट्रीयल एरिया, फेज-II, नई दिल्ली-110020